व्याकरण-महाभाष्यम्

प्रकाश-व्याख्यानोपेतम्

पस्पशाह्निकम्



समीक्षक एवं व्याख्याकार

डा० जयशङ्करलाल त्रिपाठी

व्याकरणाचार्य (गोल्डमेडलिस्ट) एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राध्यापक

संस्कृत-पालि-विभाग, कला-संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय





प्राप्तिस्थान

ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार

कचौड़ीगली, वाराणसी-२२१००१



व्याकरण-महाभाष्यम्

प्रकाश-व्याख्यानोपेतम्

पस्पशाह्निकम्



समीक्षक एवं व्याख्याकार

डा० जयशङ्करलाल त्रिपाठी

व्याकरणाचार्य (गोल्डमेडलिस्ट) एम० ए०, पी-एच० डी०

प्राध्यापक

संस्कृत-पालि-विभाग, कला-संकाय

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय



प्राप्तिस्थान

ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार

कचौड़ीगली, वाराणसी-२२१००१

प्राप्तिस्थान :—

श्री पं० काशीनाथ दीक्षित
सी. के. ६३/१२३ छोटी पियरी
वाराणसी –२२१००१

विनोद पुस्तक मन्दिर,
आगरा ।

प्रथम संस्करण: १९७९
मूल्य : रु० ५.५०

मुद्रक :
न्यू दीपक प्रेस
भगपुरी राजघाट
वाराणसी–२२१००१

प्राक्कथन

संस्कृत भाषा के सम्यग् ज्ञान में व्याकरण शास्त्र की उपादेयता सर्वविदित है। इसी लिये अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्याकरण के विभिन्न सम्प्रदायों का प्रादुर्भाव दृष्टिगोचर होता है। किन्तु आज केवल पाणिनीय-सम्प्रदाय ही सुव्यवस्थित रूप में प्रतिष्ठित है। यह त्रिमुनि—पाणिनि, कात्यायन एवं पतञ्जलि की अनुपम प्रतिभा का सुपरिणाम है। इस समय इनका वैशिष्ट्य देखने के लिये पतञ्जलि का महाभाष्य ही एकमात्र साधन है। प्राञ्जल एवं प्रसाद-गुणमयी भाषा में उपनिबद्ध होने पर भी महाभाष्य का रहस्य सदैव दुर्बोध रहा है। इसीलिये भर्तृहरि, कैयट एवं नागेशभट्ट प्रभृति वैयाकरणों ने इस पर उत्कृष्ट व्याख्यान लिखे। मेरा यह प्रकाशाख्य व्याख्यान भी इसी दिशा में एक प्रयास है। अभी इसका प्रथम (पस्पश) आह्निक ही प्रकाशित किया जा रहा है। यदि जिज्ञासुओं को इससे यत्किञ्चिदपि लाभ हुआ तो मैं अपना परिश्रम सफल समझूँगा और आगे के अंश शीघ्र प्रकाशित कराने का प्रयास करूँगा।

प्रतिवर्ष अध्यापनकाल में छात्रों को होने वाले काठिन्य को देखकर प्रस्तुत व्याख्यान लिखने का विचार हुआ। श्रद्धेय डा० सिद्धेश्वर जी भट्टाचार्य भूतपूर्व मयूरभंज प्रोफेसर एवम् अध्यक्ष संस्कृत-पालि-विभाग तथा डा० गजानन शास्त्री मुसलगाँवकर भूतपूर्व अध्यक्ष मीमांसा-धर्मशास्त्र-विभाग–काशी हिन्दूविश्वविद्यालय की प्रेरणा एवं प्रोत्साहन से यह ग्रन्थ प्रकाशित हो रहा है। अतः इन मनीषियों के प्रति हार्दिक कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ। इसके प्रकाशन के विशेष सहयोगी आचार्य पं० उमाशङ्कर शुक्ल भी धन्यवाद के अधिकारी हैं।

प्रस्तुत संस्करण को शीघ्र एवं सुन्दर रूप में प्रकाशित करने के लिये यशस्वी प्रकाशक श्री द्वारिका प्रसाद जी—ठाकुर प्रसाद पुस्तक भण्डार, कचौड़ो गली, वाराणसी, को भी हार्दिक धन्यवाद देना चाहता हूँ।

वसन्त पञ्चमी
सम्वत् २०३५

व्याख्याकार
जयशङ्कर लाल त्रिपाठो

विषय-सूची

भूमिका

आचार्य पाणिनि

आज से न्यूनातिन्यून २५०० वर्ष पूर्व अद्वितीय प्रतिभा-सम्पन्न आचार्य पाणिनि हुये थे। इनके समक्ष संस्कृत भाषा के अनेक व्याकरणग्रन्थ उपस्थित थे। इन्होंने उनकी सम्यक् समीक्षा करके एक सुव्यवस्थित एवं सन्तुलित व्याकरण-ग्रन्थ का प्रणयन करने में अभूतपूर्व सफलता प्राप्त की। सूत्रशैली में उपनिबद्ध अष्टाध्यायीग्रन्थ विश्व की समस्त भाषाओं के व्याकरणग्रन्थों की अपेक्षा उत्कृष्ट है, यह एक सर्वमान्य सत्य है। प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विद्वान् पाणिनि की प्रशंसा मुक्तकण्ठ से करते हैं।

लाघव की दृष्टि से सूत्रशैली[1] का अपना महत्त्व निश्चित है किन्तु पूर्ण तात्पर्यावबोधन में काठिन्य भी अनुभवसिद्ध है। इसीलिये पाणिनि ने स्वयं भी एक स्वोपज्ञ वृत्ति का भी प्रणयन किया था[2]। अन्य अनेक आचार्यों ने भी इस दिशा में प्रयास किये। इनमें वामन एवं जयादित्य द्वारा विरचित काशिका वृत्ति आज तक सर्वाधिक उपयोगी एवं लोकप्रिय है। इसके अतिरिक्त भट्टोजि दीक्षित का शब्दकौस्तुभ भी उत्कृष्ट रचना है। किन्तु यह खण्डित रूप में ही प्राप्त होती है। काशिकावृत्ति पर जिनेन्द्रबुद्धि का न्यास और हरदत्त की पदमञ्जरीनामक टीकायें अत्यन्त प्रसिद्ध हैं।

आचार्य कात्यायन

पाणिनि के सूत्रों पर समीक्षात्मक एवं पूरकरूप में कात्यायन ने वार्तिकों[3] की रचना की थी। कात्यायन के अतिरिक्त अन्य भी वार्तिककारों का संकेत पतञ्जलि के महाभाष्य में प्राप्त होता है। किन्तु आजकल कात्यायन के वार्तिक ही प्राप्त होते हैं। यह खेद का विषय है कि इन वार्तिकों का कोई सुव्यवस्थित और प्रामाणिक संस्करण अभीतक प्रकाशित नहीं हो सका। महाभाष्य के माध्यम से ही वार्तिकों का भी ज्ञान होता है।

---

१. अल्पाक्षरमसन्दिग्धं सारवद् विश्वतोमुखम्।
अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः॥ विष्णुधर्मोत्तर ३।५।१

२. उभयथा ह्याचार्येण शिष्याः सूत्रं प्रतिपादिताः। महाभाष्य १।४।१

३. उक्तानुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते।
तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः॥ छाया मंगलश्लोक ७

पाणिनि से लगभग २०० वर्ष पश्चात् अर्थात् ई० पू० ३०० वर्ष कात्यायन का काल माना जाता है। अतः पाणिनिद्वारा जिन शब्दों के विषय में सूत्र नहीं बनाये जा सके और कुछ नवीन प्रचलित शब्दों के लिये भी नियमों की आवश्यकता थी, इसकी पूर्ति कात्यायन ने की। इन्होंने सूत्रों की समीक्षा के साथ-साथ नवीन लक्ष्यों के लिये भी नियम प्रस्तुत किये। इन्होंने भी सूत्रशैली का ही आश्रयण लिया। अतः भाष्यकार ने वार्तिकों की व्याख्या करते हुये सूत्रों का व्याख्यान प्रस्तुत किया। कुछ स्थलों पर सूत्रकार एवं वार्तिककार के मतभेद की भी चर्चा भाष्यकार ने की है। अधिकांश स्थलों पर सूत्रकार का ही समर्थन प्राप्त होता है। जो भी हो, इतना निश्चित है कि पाणिनीय सूत्रों का रहस्य प्रकट करने में इन वार्तिकों का योगदान अवर्णनीय है। वार्तिककार कात्यायन दक्षिण भारत के निवासी थे[1]।

आचार्य पतञ्जलि

पाणिनीय व्याकरण के सर्वोत्कृष्ट व्याख्याता के रूप में पतञ्जलि का नाम आदरपूर्वक लिया जाता है। इन्होंने अपनी सूक्ष्म निरीक्षणशक्ति और विलक्षण प्रतिभाद्वारा पाणिनीय व्याकरण के उभय पक्षों—दार्शनिक एवं प्रक्रियात्मक—का विवेचन अत्यन्त प्रौढ़ता एवं व्यापकता के साथ किया है। इनका महाभाष्य एक दर्शनीय कृति है। इस महान् ग्रन्थसिन्धु का अतिक्रमण करने वाला अन्य ग्रन्थ आज तक नहीं लिखा जा सका। विविध विशेषताओं से विशिष्ट होने के कारण ही इनके भाष्य[2] के साथ 'महत्' इस विशेषण का प्रयोग करके 'महाभाष्य' कहा जाता है।

पतञ्जलि के महाभाष्य की भाषा सरल, सुबोध और प्रसादगुणमयी है। दैनिक-व्यवहारोपयोगी शब्दों का ही बाहुल्येन प्रयोग किया गया है। गम्भीर विषय-विवेचन के मध्य में अपेक्षित लौकिक दृष्टान्तों और विनोद-वाक्यों के प्रयोग से विषय सरस बना दिये गये हैं। गूढ़ विषय भी कथोपकथन आदि के द्वारा बुद्धिगम्य करा दिये गये हैं।

पतञ्जलि से पूर्व अनेक विद्वानों ने भाष्य लिखे थे, महाभाष्य में इसका संकेत प्राप्त होता है। इसमें उनके मतों की स्वीकृति और अस्वीकृति की भी

---

१. प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः। 'यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति प्रयुञ्जते। महाभाष्य पस्पश० पृ० ३८।

२. सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वाक्यैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः॥ छाया मंगलश्लोक ५।

चर्चा की गई है। कहीं-कहीं उत्तेजक वाक्य भी लिखे गये हैं।[1] उपमान, न्याय, दृष्टान्त और सूक्तियों का निरूपण भी विषयस्पष्टता में सहायक हुआ है।

पतञ्जलि ने सूत्रादि के साथ-साथ कुछ अपने स्वतन्त्र सिद्धान्त भी प्रस्तुत किये हैं। इन्हें 'इष्टि' कहा जाता है। इनके द्वारा लोकव्यवहृत शब्दों का व्युत्पादन किया है। क्योंकि भाषा के रूपसाधुत्व का प्रधान साधन लोकव्यवहार ही है। अतः तदनुसार नियम की कल्पना आवश्यक है।[2]

जीवन-वृत्त

पतञ्जलि को शेषनाग का अवतार माना जाता है। ऐसी कथा प्रसिद्ध है कि शेषनाग भगवान् पृथ्वी पर एक सुयोग्य माता की खोज में घूम रहे थे। इन्होंने एक वन में एक मुनि की गोणिका नामक कन्या देखी। वह पुत्रप्राप्ति के लिये कठोर तपस्या में लीन थी। उसे ही इन्होंने अपनी माता स्वीकार कर लिया। जब वह सूर्यार्घ्य दे रही थी तभी ये तापसका रूप धारण करके उसकी अंजलि से नीचे गिर पड़े और उठकर उसे प्रणाम करने लगे। उस कन्या ने उत्तर में यह कहा "तुम मेरी अञ्जलि से गिरे हो अतः तुम्हारा नाम पतञ्जलि[3] होगा[4]।" इसीलिये इन्हें शेषनाग के विभिन्न नामों से व्यवहृत किया गया है।

इनका जन्मस्थान कुछ विवादग्रस्त है। कश्मीर-गमन के प्रति इनकी उत्कण्ठा का उल्लेख देख कर कुछ विद्वान् इन्हें कश्मीर का मानते हैं। दूसरे गोनर्द का सिद्ध करते हैं। गोनर्द को कुछ विद्वानों ने वर्तमान गोंडा माना है। दूसरे लोग पंजाब के समीप किसी गाँव को गोनर्द सिद्ध करते हैं। जो भी हो, इतना सुनिश्चित है कि ये उत्तर भारत के थे[5]। इधर के स्थानों में—कश्मीर, मथुरा, स्रुघ्न, साकेत, वाराणसी और पाटलिपुत्र से पर्याप्त परिचित थे। इन स्थानों का उल्लेख करने में विशेष अभिरुचि प्रतीत होती है।

पतञ्जलि का काल उतना विवादग्रस्त नहीं है। इन्होंने वैदिक-धर्मावलम्बी राजा पुष्यमित्र के यज्ञ के आचार्यत्व का वर्तमानकालिक प्रयोग किया है—

---

१. किं पुनरनेन वर्ण्येन। किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात्? महाभाष्य पस्पशा० पृ० ३१।

२. इसके लिये "अजेर्व्यघञपोः" (पा०सू० २।४।५६) सूत्र पर महाभाष्य द्रष्टव्य है—"सूत आह—प्राजिता देवानां प्रियः, न त्विष्टिज्ञः इष्यते एतद्रूपमिति।"

३. पतन्तोऽञ्जलयो यस्मिन् सः पतञ्जलिः।

४. पतञ्जलिचरित २।७-११ से उद्धृत (पतञ्जलिकालीन भारत पृ० ५०)।

५. द्रष्टव्य पतञ्जलिकालीन भारत पृ० ५४-५५।

"इह पुष्यमित्रं याजयामः।[1]" पुष्यमित्र का काल ई० पू० १५० के समीप स्वीकार किया जाता है। अतः यही काल भाष्यकार पतञ्जलि का भी सिद्ध होता है। भाष्य में एक भूतकालिक घटना का भी उल्लेख प्राप्त होता है "अरुणद् यवनः साकेतम्, अरुणद् यवनो माध्यमिकाम्।[2]" ई० पू० १५० के समीप ही ग्रीक यवन मीनाण्डर ने भारत के कुछ भागों पर आक्रमण किया था। इससे भी यही सिद्ध होता है कि पतञ्जलि का काल ई० पू० १५० के समीप ही मानना चाहिये।

महाभाष्य के प्रमुख व्याख्याकार

भर्तृहरि—

पतञ्जलि के महाभाष्य की अनेक व्याख्यायें लिखी गयीं थीं परन्तु दुर्भाग्यवश उनमें अधिकांश नाममात्र में अवशिष्ट हैं। उपलब्ध व्याख्याओं में सबसे प्राचीन व्याख्या भर्तृहरि की है। इसे महाभाष्यदीपिका कहा जाता है। भर्तृहरि का काल ४०० ई० से ४५० ई० तक माना जाता है। दीपिका के अतिरिक्त वाक्यपदीय-नामक एक उत्कृष्ट ग्रन्थ भी भर्तृहरि ने लिखा है। इसमें तीन काण्ड हैं और व्याकरण के दार्शनिक पदार्थों का विस्तृत विवेचन है।

कैयट—

भर्तृहरि के अनन्तर सबसे महत्त्वपूर्ण उपलब्ध व्याख्या के रचयिता उपाध्याय कैयट हैं। ये उपाध्याय जैयट के पुत्र थे।[3] इनका काल ११ वीं शती का मध्य-भाग माना जाता है। इन्होंने सम्पूर्ण महाभाष्य पर प्रदीप नामक एक अत्यन्त प्रौढ एवं गम्भीर व्याख्या लिखी है। महाभाष्य के गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन में यह व्याख्या अतीव सहायक है। इसकी सहायता के विना महाभाष्य का वास्तविक अभिप्राय समझना निश्चित ही कठिन है। अपने पूर्ववर्ती समस्त व्याख्यानों का सुन्दर समावेश कैयट ने किया है। इन्होंने स्पष्ट शब्दों में भर्तृहरि की कृतज्ञता व्यक्त की है।[4] इसलिये इनका मुख्य आधार भर्तृहरि की महाभाष्य-दीपिका रही है, ऐसा प्रतीत होता है।

नागेश भट्ट—

कैयटीयप्रदीप पर उपलब्ध व्याख्याओं में महावैयाकरण नागेश भट्ट का उद्द्योत सर्वातिशायी व्याख्यान है। नागेश ने प्रदीप के साथ साथ भाष्य के भी

---

१. प्रवृत्तस्याविरामे शासितव्या भवन्ती। (लटः पूर्वाचार्यसंज्ञा)। इहाधीमहे, इह वसामः, इह पुष्यमित्रं याजयामः। म०भा० ३।२।१२६।

२. म० भा० ३।२।१११।

३. इत्युपाध्याय-जैयटपुत्र-कैयटकृते भाष्यप्रदीपे······। द्र० प्रदीप की समाप्ति।

४. तथापि हरिबद्धेन सारेण ग्रन्थसेतुना।
क्रममाणः शनैः पारं तस्य प्राप्तास्मि पङ्गुवत्॥ प्रदीपमंगल०।

अनेक अंशों को प्रौढ़ व्याख्या की है। अनेक स्थलों पर इनके स्वतन्त्र चिन्तन भी प्राप्त होते हैं। इनके उद्द्योत की सहायता से ही भाष्य एवं प्रदीप का वास्तविक रहस्य समझा जा सकता है। नागेश १७ वीं शती के अन्त में उत्पन्न हुये थे। ये महाराष्ट्रिय ब्राह्मण थे। इनके पिता शिवभट्ट और माता सतीदेवी थीं।[1] इसका उल्लेख अनेक स्थलों पर प्राप्त होता है। भट्टोजि दीक्षित के पौत्र हरिदीक्षित से इन्होंने व्याकरण शास्त्र का और श्री रामराम भट्टाचार्य से न्यायशास्त्र का अध्ययन किया था।[2] शृङ्गवेरपुर के राजा रामसिंह वर्मन् इनके आश्रयदाता थे।[3] इन्होंने संस्कृत साहित्य की प्रत्येक शाखा में कुछ न कुछ अवश्य लिखा है। ये अपने को सर्वशास्त्रार्थ-तत्त्वज्ञ कहते थे।[4] इनके ग्रन्थों की संख्या लगभग एक सौ है। उनमें महाभाष्यप्रदीपोद्द्योत, शेखरद्वय और मञ्जूषात्रयी अत्युत्कृष्ट रचनायें मानी जाती हैं।

प्रतिपाद्य विषय

व्याकरण का अन्वर्थ नाम शब्दानुशासन है। पाणिनीय शब्दानुशासन में लौकिक एवं वैदिक उभयविध शब्दों का अनुशासन किया गया है। अतः केवल वैदिक अथवा केवल लौकिक शब्दों का अनुशासन करने वाले अन्य व्याकरणों की अपेक्षा इस पाणिनीय व्याकरण का उत्कर्ष स्वतः स्पष्ट है। इसीलिये अत्यन्त प्राचीन काल से लेकर अद्यावधि इसकी महत्ता एवं उपयोगिता निर्विवादरूपेण सर्वजनस्वीकृत है। पातञ्जल-महाभाष्य पाणिनीय व्याकरण की सर्वोत्कृष्ट व्याख्यात्मक रचना है। इसका प्रथम आह्निक भूमिकारूप है। इसमें विवेचित प्रमुख विषयोंका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

शब्द का स्वरूप

लोक में शब्द और अर्थ का अभेदरूपेण ही व्यवहार दृष्टिगोचर होता है। अतः जिस शब्द का अनुशासन करना अभिप्रेत है उसका स्वरूप स्पष्ट करना अत्यावश्यक है। सामने स्थित गाय को देखने पर 'गौः' यह ज्ञान होता है। इस ज्ञान के विषयभूत जितने पदार्थ हैं, इस ज्ञान में जिस जिस का भान होता है, उनमें शब्द कौन पदार्थ है, शब्द क्या है ? इसके उत्तर में इस ज्ञान में भासित

---

१. इति शिवभट्टसुत-सतीगर्भसम्भव-नागोजिभट्टेन कृते भाष्यप्रदीपोद्द्योते··· ।

२. अधीत्य फणिभाष्याब्धिं सुधीन्द्रहरिदीक्षितात् ।
न्यायतन्त्रं रामरामाद् वादिरक्षोघ्नरामतः ॥ लघुमञ्जूषा की समाप्ति में।

३. शृङ्गवेरपुराधीशाद्रामतो लब्धजीविकः । लघुशब्देन्दुशेखर-मंगलाचरण ।

४. सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः सर्वत्र च निबन्धकृत् । लघुमञ्जूषा की समाप्ति में।

होने वाले गोव्यक्ति, उसकी चेष्टायें, उसके रंग और गोत्वजाति में शब्दत्व का आपादन किया गया और यह कह कर खण्डन कर दिया गया कि ये सभी पदार्थ तो द्रव्य आदि हैं, शब्द न ीं हैं। शब्द के दो स्वरूप प्रतिपादित किये गये हैं— एक व्याकरण-दर्शन का सिद्धान्त है और दूसरा लोकव्यवहार से सिद्ध—

(१) शब्द[1] वह तत्त्व है जो वैखरीध्वनि से अभिव्यक्त होते हुये सींग पूँछ खुर आदि वाले पशुविशेष का वाचक होता है। पारिभाषिक रूप में इसे स्फोट कहा जाता है। स्फोट की द्विविध व्युत्पत्ति की जाती है—

(क) स्फुट्यते=अभिव्यज्यते वैखरीध्वनिरूपवर्णैरिति स्फोटः=जो वैखरी-ध्वनिरूप वर्णों से व्यक्त होता है।

(ख) स्फुटति=अभिव्यक्तीभवति अर्थः अस्मादिति स्फोटः=जिससे अर्थ की प्रतीति होती है, जो अर्थ का वाचक है।

(२) किन्तु इस स्फोट-तत्त्व का ज्ञान और अनुभव सभी को नहीं होता है। साथ ही प्रक्रियादि में इसकी उपयोगिता भी नहीं प्रतीत होती है। अतः 'ध्वनि' को शब्द माना गया है। क्योंकि लोक में अर्थबोधक ध्वनि को ही शब्द ऐसा कहा जाता है। अतः ध्वनि[2] शब्द है।

शब्दानुशासन के प्रयोजन

महाभाष्य में मुख्य और आनुषङ्गिक भेद से द्विविध प्रयोजन प्रस्तुत किये गये हैं। मुख्य प्रयोजन[3] पाँच हैं—रक्षा, ऊह, आगम, लघु और असन्देह तथा आनुषङ्गिक तेरह हैं। मुख्य का विवेचन इस रूप में है :—

(१) रक्षा—व्याकरण का अध्येता लौकिक और वैदिक शब्दों के अन्तर को जानता है। वह शब्दों के शुद्ध रूप को समझता है। अतः कहीं भी भ्रम नहीं करता है। ठीक रूप से वैदिक शब्दों की रक्षा करने में समर्थ होता है।

(२) ऊह—प्रकृतियाग में समस्त विधियाँ उपदिष्ट रहतीं हैं। विकृतियाग में नवीन विधि (अंश) का उल्लेख रहता है। अतः इनमें प्रकृतियाग के अनुसार लिङ्ग, विभक्ति एवं प्रकृति आदि का अपेक्षित परिवर्तन करना पड़ता[4] है।

(३) आगम = वेदवचन। यह प्रयोजन = फल नहीं अपि तु प्रयोजन =

---

१. येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः। महाभाष्यपस्पश:० पृ० ५।

२. अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते।……तस्मात् ध्वनिः शब्दः। महाभाष्य पस्पश० पृ० ५।

३. रक्षोहागमलध्वसन्देहाः प्रयोजनम्। महाभाष्य पस्पश० पृ० ६।

४. प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या।

प्रयोजक है।[1] वेदवचन से व्याकरणाध्ययन में प्रवृत्ति सूचित होती है—"ब्राह्मण को किसी दृष्ट प्रयोजन की अपेक्षा के विना ही छह अङ्गों सहित वेद का अध्ययन और ज्ञान करना चाहिये।"[2] 'मुखं व्याकरणं स्मृतम्' के अनुसार व्याकरण सबसे प्रधान है।

(४) लघु—व्याकरणाध्ययन द्वारा शब्दनिष्पादन की प्रक्रिया का ज्ञान हो जाता है। अतः लाघव से अनेक शब्दों का ज्ञान हो जाता है। अधिकाधिक शब्दों का ज्ञाता विद्वान् ही अध्यापनादि में सफलता और यश प्राप्त कर पाता है।

(५) असन्देह = सन्देह न होना। वैयाकरण को कभी भी सन्देह नहीं होता है।[3] स्वरादि का ज्ञान रखने के कारण अर्थनिर्णय में वह समर्थ रहता है। स्वरों का सम्यग् ज्ञान व्याकरणाध्ययन से ही सम्भव है। जैसे 'स्थूलपृषतीम्' में वैयाकरण पूर्वपद (स्थूल) का प्रकृतिस्वर (अन्तोदात्त) देख कर बहुव्रीहि का ही निर्णय करता है।[4] कर्मधारय का सन्देह नहीं करता है।

आनुषङ्गिक तेरह प्रयोजन भाष्य एवं हिन्दी व्याख्या में ही देखना चाहिये।[5]

शब्दानुशासन का स्वरूप

समस्या यह है कि शुद्ध संस्कृत शब्द और अपशब्द इन दोनों में किसी एक का अथवा दोनों का अनुशासन करना चाहिये? उत्तर यह है कि दोनों का अनुशासन नहीं करना चाहिये। किसी भी एक का अनुशासन करने से उससे भिन्न का ज्ञान स्वतः हो जाता है। जैसे 'पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः'[6] यह कहने से निर्दिष्ट पाँचनाखूनवाले पाँच प्राणियों को खाना चाहिये—इससे यह अर्थतः स्पष्ट है कि अन्य को नहीं खाना चाहिये। अथवा 'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः', यह कहने से गाँववाला कुक्कुट और सुअर भक्षणीय नहीं है—इससे अर्थतः यह प्रतीत हो जाता है कि जंगलवाला कुक्कुट और सुअर भक्षणीय

---

१. आगमः प्रयोजनः प्रवर्तको नित्यकर्मतां व्याकरणाध्ययनस्य दर्शयति। प्रयोजनशब्देन च फलं प्रयोजकश्चोच्यते। कैयट।

२. ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च। श्रुति।

३. सन्देहस्य प्रागभावोऽत्र द्रष्टव्यः, न तु प्रध्वंसाभावः। नहि वैयाकरणस्य संशय उत्पद्य विनश्यति, इतरस्यैव तदुत्पादात्। कैयट।

४. पूर्वपदप्रकृतिस्वराद् बहुव्रीह्यर्थावसाय इत्यर्थः। कैयट।

५. तेषां प्रधानत्वं च पदपदार्थज्ञानाधीनत्वेनान्तरङ्गत्वात् वक्ष्यमाणानां च बहिरंगशब्दापशब्दप्रयोगविधिनिषेधविषयत्वादानुषङ्गिकत्वं बोध्यम्। नागेश।

६. पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्यकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः ॥
वाल्मीकि-रामायण-किष्किन्धाकाण्ड।

है। यही स्थिति यहाँ भी है। यदि 'गौः' यह साधु (संस्कृत) शब्द है, ऐसा उपदेश किया जाय तो अर्थतः यह प्रतीत हो जाता है कि गावी, गोणी आदि असाधु हैं, अपशब्द हैं। और यदि यह कहा जाय कि गावी, गोणी, गोता आदि अपशब्द हैं, तो अर्थतः प्रतीत हो जाता है कि 'गौः' यह साधु (संस्कृत) शब्द है। अतः शब्द या अपशब्द किसी एक का ही उपदेश करना उचित है, दोनों का नहीं।

चूँकि (संस्कृत) शब्दों की संख्या अपेक्षाकृत कम है, इसके लिये कम श्रम अपेक्षित होगा। अपशब्द अधिक हैं। उनके लिये अधिक श्रमादि अपेक्षित होगा। अतः[1] साधु शब्दों का ही अनुशासन लाघवमूलक और तर्कसंगत है।

शब्दों के अनुशासन को दो पद्धतियाँ हो सकतीं हैं—

(१) प्रत्येक पद का पाठ करके अनुशासन करना।

(२) कुछ सामान्य शास्त्र बनाना और लक्ष्यानुसार विशेष शास्त्र बना कर उनका अपवाद करना।

इन में प्रतिपदपाठ करके अनुशासन करना सम्भव नहीं है।[2] क्योंकि देवगुरु बृहस्पति ने देवराज इन्द्र को देवताओं के एक हजार वर्ष तक प्रत्येक पद का पाठ पढ़ाने का प्रयास किया था किन्तु वे सफल नहीं हो सके। और आजकल अल्पायु मानव अधिक से अधिक सौ वर्ष जीवित रह पाता है। विद्या की सफलता के लिये चार अवस्थायें पार करनीं पड़तीं हैं—(१) गुरुमुख से अध्ययन (२) अधीत विषय का स्वयम् अभ्यास, चिन्तन (३) अध्यापन और (४) यागादि स्थलों पर अपने ज्ञान का व्यावहारिकरूप में प्रदर्शन।[3] आज का मनुष्य केवल पढ़ते-पढ़ते ही मर जायेगा। तीन अवस्थायें अस्पृष्ट ही रहेंगी। अतः कुछ सामान्य सूत्र जैसे "कर्मण्यण्"[4] और कुछ इसके अपवाद सूत्र जैसे "आतोऽनुपसर्गे कः"[5] बनाने चाहिये। इसी रीति से सभी शब्दों का अनुशासन सरल और लाघवपूर्वक सम्भव है।

शब्द, अर्थ एवं सम्बन्ध की नित्यता

वैयाकरण आचार्य शब्द-नित्यतावाद के समर्थक हैं।[6] आचार्य व्याडि ने एक लाख श्लोकों का संग्रहनामक एक ग्रन्थ लिखा था। यह ग्रन्थ आजकल उपलब्ध नहीं होता है। इसमें शब्द की नित्यता एवम् अनित्यता दोनों पक्षों के गुण एवं

---

१. लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। म० भा० पस्पश० पृ०२४।

२. अनभ्युपाय एषः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। म० भा० पस्पश० पृ०२४।

३. चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति। म० भा० पस्पश० पृ०२५।

४. पा. सू. ३।२।१ ५ पा. सू. ३।२।३।

६. व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः। पस्पश० नागेश।

दोष प्रस्तुत किये गये थे। इसमें यही निष्कर्ष प्रतिपादित था कि व्याकरण का उद्देश्य साधुत्वज्ञान करवाना है। अतः नित्यानित्य दोनों पक्षों में इस व्याकरण शास्त्र की उपयोगिता सिद्ध ही रहती है।

आचार्य पाणिनि भी शब्दनित्यता के समर्थक हैं। इन्होंने शब्द, अर्थ और इनके सम्बन्ध—तीनों की नित्यता स्वीकार करते हुए ही अपने व्याकरणशास्त्र की रचना की। स्फोटरूप शब्द नित्य ही है। कार्यशब्दवादी नैयायिकादि भी प्रवाहनित्यता से नित्य ही स्वीकार कर लेते हैं। अर्थ भी जातिरूप होने से अथवा प्रवाहनित्यता से नित्य है। जब दोनों नित्य हैं तो इनके सम्बन्ध की नित्यता स्वतः स्पष्ट है।[1] पाणिनि शब्दार्थसम्बन्ध के स्रष्टा नहीं है। ये सिद्ध शब्दार्थ-सम्बन्ध के केवल स्मारक ही हैं। यही बात कात्यायन ने अपने प्रथम वार्तिक में स्पष्ट की है—

"सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे।"

सिद्ध शब्द नित्य एवम् अनित्य उभयविध पदार्थों का वाचक है, दोनों के लिए प्रयुक्त होता है। जैसे—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशम् आदि में नित्य अर्थ में सिद्ध शब्द प्रयुक्त है। और सिद्धः सूपः, सिद्धः ओदनः, सिद्धा यवागू आदि में प्रयुक्त सिद्ध शब्द अनित्य = कार्य पदार्थों का वाचक है। अतः वार्तिकस्थ 'सिद्ध' शब्द को नित्य अर्थ का वाचक प्रतिपादित करने के लिए निम्न चार तर्क प्रस्तुत किये गये हैं—

(१) व्याडिरचित एक लक्षश्लोकात्मक संग्रह नामक ग्रन्थ में कार्य = अनित्य के विरोधी रूप में सिद्ध शब्द का प्रयोग किया गया है—'किं कार्यः शब्दोऽथ सिद्धः ?' इससे सिद्ध शब्द नित्यपर्याय है, यह ज्ञात होता है। अतः वार्तिक में भी सिद्ध शब्द नित्यार्थक मानना चाहिए।

(२) कहीं कहीं 'एव' आदि द्वितीय पद के न रहने पर भी अवधारण (निश्चय) मान लिया जाता है;[2] जैसे अब्भक्षः वायुभक्षः यहाँ अप एव भक्षयति वायुमेव भक्षयति यह अर्थ प्रतीत होता है। इसी प्रकार यहाँ भी 'एव' के न रहने पर भी उसका अर्थ समझ लेना चाहिए—सिद्धे एव, न तु साध्ये = अनित्ये।

(३) जैसे देवदत्त, सत्यभामा आदि के भामा आदि पूर्व या उत्तर पद का

---

१. तत्र नित्यः शब्दो जातिस्फोटलक्षणो व्यक्तिस्फोटलक्षणो वा। कार्यशब्दिकानामपि प्रवाहनित्यतया। अर्थस्यापि जातिलक्षणस्य नित्यत्वम्। द्रव्यपक्षेऽपि सर्वशब्दानामसत्योपाध्यवच्छिन्नं ब्रह्मतत्त्वं वाच्यमिति-नित्यता, प्रवाहनित्यतया वा। सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयाऽनादित्वान्नित्यता। पस्पश० कैयट।

२. यदा तु द्योतकमन्तरेण सामर्थ्यादवधारणं गम्यते तदा तत्-एकपदमित्युच्यते। कैयट।

लोप[1] होने पर दत्त या सत्या का भी प्रयोग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी वास्तव में 'अत्यन्तसिद्धः' है, इस के पूर्व पद (अत्यन्त) का लोप हुआ है। अतः जो अत्यन्तसिद्ध = कालत्रय में साध्य नहीं है, वही यहाँ अभिप्रेत है।

(४) कहीं भी सन्देह होने मात्र से उसे अशुद्ध या अप्रामाणिक नहीं मानना चाहिए। विशिष्ट विद्वानों की व्याख्या देखकर निर्णय करना चाहिए[2]। यहाँ भी 'सिद्ध' की व्याख्या नित्य की जायगी। अतः यहाँ सिद्ध शब्द नित्यार्थक ही समझना चाहिये।

यद्यपि सिद्धे के स्थान पर 'नित्ये' पाठ किया जा सकता था तथापि 'सिद्धे' के प्रयोग से दो लाभ हैं (१) मंगलाचरण और (२) व्याख्यान द्वारा नित्यार्थकता का उपपादन[3]। चूँकि यह प्रथम वार्तिक है। और मंगलाचरण शास्त्रविहित है। इस लिए कात्यायन ने नित्य का पाठ न करके सिद्ध का ही किया है।

इसप्रकार पाणिनि ने शब्द, अर्थ और इन दोनों के सम्बन्ध को नित्य समझते हुए ही अपने व्याकरण की रचना की है। वे नवीन शब्दों के निर्माता नहीं हैं। यही व्याकरणशास्त्र का सिद्धान्त है।

व्याकरणद्वारा धर्मनियम

शब्द, अर्थ एवम् इनके सम्बन्ध की नित्यता का ज्ञान लोक-व्यवहार से ही हो जाता है। क्योंकि प्रयोग करने का इच्छुक कोई भी व्यक्ति वैयाकरण से शब्द-निष्पादन की प्रार्थना नहीं करता है। स्वयं प्रयोग करता है। अतः अर्थ-बोध के लिए शब्दप्रयोग प्राप्त होता है, उसमें व्याकरण-शास्त्र धर्मनियम करता है। (नियम—साधु शब्द के द्वारा ही अर्थ का बोध करवाना चाहिए अपशब्द के द्वारा नहीं) धर्मनियम की निम्न तीन व्युत्पत्तियाँ भाष्य में हैं उनका तात्पर्य इस प्रकार है—

(१) धर्म = प्रत्यवायपरिहार के लिए नियम।

(२) धर्मरूप नियम।

(३) धर्मप्रयोज्य नियम[4]।

(इन तीनों पक्षों का विशेष विवेचन आगे भाष्य की व्याख्या में देखना चाहिए।) यह धर्मनियम अन्यत्र लौकिक एवं वैदिक स्थलों के समान ही

---

१. विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपः। का० वा० २७५६

२. व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्। म०भा० परिभाषा पृ०३१।

३. पश्यति त्वाचार्यो मंगलार्थश्चैव सिद्ध शब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति। म० भा० पस्पश० पृ०३२।

४. धर्माय नियमः-धर्मनियमः। धर्मार्थो वा नियमः-धर्मनियमः। धर्म-प्रयोजनो वा नियमः-धर्मनियमः। म०भा० पस्पश० पृ०३७।

व्याकरण के विषय में भी समझना चाहिए। नियमानुसार कार्य करना सर्वत्र धर्मप्राप्ति का साधन होता है। इस लिये अर्थ का ज्ञान शब्द और अपशब्द दोनों से एक समान होने पर भी व्याकरण शास्त्र धर्म का नियम करता है कि साधु (संस्कृत) शब्द के द्वारा ही अर्थ का ज्ञान करवाना चाहिए। ऐसा करना कल्याणकारक होता है।[1]

अप्रयुक्त शब्दों का भी संस्कार आवश्यक

यद्यपि ऊष, तेर, चक्र और पेच आदि कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका प्रयोग नहीं देखा जाता है। और व्याकरण शास्त्र प्रयोगमूलक है। अतः अप्रयुक्त शब्दों का संस्कार (प्रक्रिया का ज्ञान) नहीं करना चाहिए। इनके लिए सूत्रादि नहीं बनाना चाहिए।

यद्यपि इन शब्दों के भी अर्थ हैं जिनका बोध कराने के लिये इन शब्दों का प्रयोग करना सिद्ध हो सकता[2] है तथापि इन शब्दों का प्रयोग न करके अन्य शब्दों का प्रयोग करके भी इनके अर्थों का ज्ञान कराया जाता है। जैसे—ऊष = उषिताः, चक्र = कृतवन्तः, पेच = पक्ववन्तः, तेर = तीर्णाः। अर्थात् लिट्मध्यम-पुरुष बहुवचन का रूप प्रयोग न करके क्त या क्तवतु (निष्ठा) प्रत्ययान्त के प्रयोग से भी अर्थबोध सम्भव है। अतः इनका अप्रयोग ही मानना चाहिये[3]। तथापि इन शब्दों का संस्कारक ज्ञान उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार बड़े-बड़े यागों की प्रक्रिया का। आज कल सौ या हजार वर्षों वाले यज्ञ कोई नहीं करता है और न कर सकता है किन्तु वेदाध्ययन धर्म है यह मान कर इनका अध्ययन और अध्यापन कराया जाता है। यही स्थिति अप्रयुक्त शब्दों के विषय में भी है।[4]

साथ ही, यह विश्व अत्यन्त विशाल है। असीमित साहित्य है। कहीं न कहीं इनका प्रयोग अवश्य प्राप्त हो सकता है। खोजने का प्रयास करना चाहिये[5]। कुछ ऐसे भी शब्द हैं जिनका प्रयोग विशेष क्षेत्रों में विशेष अर्थों में प्राप्त होता है[6]। अतः किसी शब्द का अप्रयोग कहना केवल दुस्साहस ही है। वास्तव में

---

१. एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देनापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते शब्देनै-वार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।
म० भा० पस्पश० पृ० ४०।

२. अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्। का० वा० २।

३. अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्। का० वा० ३।

४. अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्। का० वा० ४।

५. उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। म० भा० पस्पश० पृ० ४४

६. एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्रतत्र नियतविषया दृश्यन्ते। म० भा० पस्पश० पृ० ४४

इनका भी प्रयोग वेद में प्राप्त होता है—"यद्वो रेवती-रेवत्यन्तमूष", "यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र", "यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम् ।"

अतः सभी शब्दों के संस्कारक नियम बनाना उचित है।

शब्दों के ज्ञान में धर्म अथवा प्रयोग में

"एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः, सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति" (ऋक् ६।१।८४) यह श्रुति मनोरथपूर्ति की बोधक है। समस्या यह है कि किसी का सुप्रयोग देखकर उसके सम्यग् ज्ञान का अनुमान होता है और सुप्रयोग सम्यग् ज्ञान से होता है। अतः ज्ञान में धर्म है, या प्रयोग में या दोनों में—इसका स्पष्टीकरण आवश्यक है।

केवल ज्ञान में धर्मप्राप्ति मानने पर तो अधर्मप्राप्ति भी सम्भव है[1]। क्योंकि शब्दों के ज्ञान में जैसे धर्म प्राप्त होता है वैसे ही अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी। वास्तव में अधर्म अधिक प्राप्त होता है क्योंकि अपशब्दों की संख्या अधिक है। साथ ही, वैदिक आख्यान[2] भी यही प्रमाणित करते हैं कि प्रयोग ही धर्म अथवा अधर्म का जनक होता है केवल ज्ञान नहीं। अतः प्रयोग में धर्मप्राप्ति माननी चाहिये।

यदि प्रयोग में ही धर्मप्राप्ति मानी जाती है तो व्याकरणादि-अध्ययन के विना भी जो व्यक्ति (संस्कृत) शब्दों का प्रयोग करेगा वह भी धर्मप्राप्ति करेगा[3]। अतः व्याकरण-अध्ययन का परिश्रम व्यर्थ हो जायगा। अतः केवल प्रयोग को धर्म का जनक नहीं मानना चाहिये।

जिस प्रकार अन्य वैदिक अनुष्ठानों में ज्ञानपूर्वक प्रयोग ही धर्म का जनक होता है।[4] अथवा वैदिक शब्द नियमपूर्वक पढ़े जाने पर ही धर्मादिफल के जनक होते हैं। उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये—जो व्याकरण के नियमों का अध्ययन करके उनका ज्ञान रखते हुये प्रयोग करता है वही धर्मप्राप्ति का अधिकारी होता है।

वास्तव में केवल ज्ञान में ही धर्म मानना उचित है क्योंकि उक्त श्रुति से यही ज्ञात होता है कि शब्द का ज्ञान धर्मजनक होता है। अपशब्द का ज्ञान अधर्म का जनक होता है—यह श्रुत्यादिरूप शब्द से नहीं ज्ञात होता है। वैयाकरण श्रुत्यादिरूप शब्दों को प्रमाण मानते हैं। अतः शब्द से जिसका

---

१. ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मः। का० वा० ६।

२. आचारे नियमः। का० वा० ७।

३. प्रयोगे सर्वलोकस्य। का० वा० ८।

४. शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन। का० वा० ९।

विधान या निषेध नहीं किया जाता है वह धर्म या अधर्म किसी का जनक नहीं माना जाता है।[१]

शब्दों के ज्ञान में अपशब्दों का ज्ञान माध्यम है, अनिवार्य है।[२] अतः वह दोषाधायक नहीं है।

अथवा[३] जिस प्रकार कुआँ खोदने वाला कुआँ खोदते समय धूल कीचड़ आदि से लिप्त हो जाता है किन्तु बाद में उसी कुयें से निकलने वाले जल से अपने शरीर को धोकर उस मलिनता को दूर कर लेता है, स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार साधु शब्दों के ज्ञान से जो धर्म प्राप्त होता है वह अपशब्दज्ञानजन्य अधर्म का विनाश कर देता है। वैदिक प्रयोग के नियम का विषय केवल यज्ञ-सम्बन्धी कार्यों में ही लागू होता है।[४] वहीं अपशब्द का प्रयोग अधर्म का जनक होता है। सामान्यव्यवहार में अर्थबोध के लिये प्रयुक्त अपशब्द अधर्मजनक नहीं होते हैं। इसीलिये असुर यागकर्म में अशुद्धोच्चारण करने से पराजित हुये थे। अतः केवल ज्ञान ही धर्मप्राप्ति का कारण मानना चाहिये।

व्याकरण का अर्थ

सूत्र एवं शब्द अर्थात् लक्ष्य और लक्षण दोनों के लिये व्याकरण शब्द का प्रयोग देखा जाता है। भाष्यकार ने अनेक प्रयोजन प्रदर्शित करते हुये व्याकरणाध्ययन की आवश्यकता सिद्ध की है। अतः (१) सूत्र (२) शब्द और (३) दोनों का समुदाय—इन तीन अर्थों में किस पक्ष में क्या दोष हैं और क्या सिद्धान्त है, इसका विवेचन निम्नरूप में किया गया है—

(क) व्याकरण का वाच्यार्थ सूत्र—इस पक्ष में दो दोष होते हैं—

(१) व्याकरणस्य सूत्रम्—इस प्रयोग में षष्ठी का अर्थ—सम्बन्ध—उपपन्न नहीं हो पाता है।[५] क्योंकि राज्ञः पुरुषः आदि के समान भिन्न-भिन्न दो पदार्थों का ही सम्बन्ध षष्ठी से प्रतिपादित होता है। किन्तु व्याकरण=सूत्र होने पर ये दोनों एक ही पदार्थ हो जाते हैं। अतः षष्ठ्यर्थ अनुपपन्न ही है।

(२) व्यवहार में यह कहा जाता है कि 'हम व्याकरण से शब्दों का ज्ञान प्राप्त करते हैं।' परन्तु व्याकरण=सूत्र से शब्दों का ज्ञान नहीं हो सकता है[६]। उसके व्याख्यान की भी अपेक्षा होती है। उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार (अपेक्षित पदादि की अनुवृत्ति) आदि सब मिल कर व्याख्यान कहा जाता है;

---

१. यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धम्, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। म० भा० पस्पशा० पृ० ४९। २. अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने। म० भा० पस्पशा०। ३. अथवा कूपखानकवदेतद् भविष्यति। म० भा० पस्पशा०। ४. याज्ञे कर्मणि स नियमः, अन्यत्रानियमः। म० भा० पस्पशा०। ५. सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः। का० वा० १०। ६. शब्दाप्रतिपत्तिः। का० वा० ११।

केवल सन्धि-विच्छेद कर देना सूत्र का व्याख्यान नहीं होता। अतः सूत्र का वाच्यार्थ—व्याकरण मानना दोषद्वयग्रस्त है।

(ख) व्याकरण का वाच्यार्थ शब्द—इस पक्ष में तीन दोष हैं—(१) व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम्—इस व्युत्पत्ति के अनुसार वि+आङ्+कृ+ल्युट् (=अन) यहाँ करण अर्थ में ल्युट् प्रत्यय होता है। किन्तु व्याकरण=शब्द मानने पर यह करण अर्थ उपपन्न नहीं होता[1] क्योंकि व्याकरण=शब्द से किसी की व्याकृति (प्रकृति-प्रत्ययादि-विभाग-ज्ञान) नहीं होती है। शब्द व्याकृति का करण नहीं है अपितु कर्म है। शब्द की ही व्याकृति की जाती है। (२) "तत्र भवः" (पा० सू० ४।३।५३) यह सूत्र 'उसमें होने वाला' इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय करता है-व्याकरणे भवः योगः=वैयाकरणः। परन्तु व्याकरण=शब्द में होने वाला योग इस अर्थ में—वैयाकरणः योगः—यह उपपन्न नहीं हो सकता क्योंकि 'शब्द' में कोई योग नहीं होता है।[2] अपितु सूत्र में ही होता है। (३) "तेन प्रोक्तम्" (पा० सू० ४।३।२०१) उसके द्वारा प्रोक्त (प्रथम प्रकाशित) इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय होते हैं। जैसे—पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयं व्याकरणम्। परन्तु व्याकरण=शब्द पक्ष में यह प्रत्ययार्थ उपपन्न नहीं होता[3] है, क्योंकि पाणिनि द्वारा शब्द नहीं अपितु सूत्र ही प्रोक्त हैं।

(ग) व्याकरण का वाच्यार्थ—सूत्र और शब्द का समुदाय—इस पक्ष के अनुसार लक्षण=सूत्र और लक्ष्य=शब्द इन दोनों का समुदाय ही व्याकरण का वाच्यार्थ है।[4] इस पक्ष में उक्त दोनों पक्षों का कोई दोष नहीं रहता हैं। यद्यपि समुदाय अर्थ मानने पर केवल सूत्र पढ़नेवाला व्याकरण पढ़नेवाला नहीं कहा जाना चाहिए तथापि कभी-कभी व्यवहार में समुदाय-वाचक शब्द अवयव के लिए भी प्रयुक्त होते है।[5] अतः समुदायरूप अर्थ के अवयवभूत केवल सूत्र अथवा शब्द किसी एक का पढ़ने वाला भी वैयाकरण (व्याकरण पढ़नेवाला) कहा जा सकता है।

व्याकरण का वाच्यार्थ केवल सूत्र—सिद्धान्त-पक्ष—उपर्युक्त रीति से समुदाय अर्थ मानकर कार्यनिर्वाह हो जाता है किन्तु दोनों को अर्थ मानना ही गौरव है। अतः सिद्धान्तपक्ष यही है कि व्याकरण का अर्थ है-केवल सूत्र। जिस प्रकार 'राहोः शिरः' आदि में राहु और शिर दोनों एक ही पदार्थ हैं तो भी काल्पनिक अवयवावयविभाव मानकर षष्ठी की जाती है। उसी प्रकार यहाँ भी व्यपदेशिवद्भाव से षष्ठी का अर्थ उपपादित करके—'व्याकरणस्य सूत्रम्' यह प्रयोग हो सकता है।[6] अथवा सूत्र सामान्यवाचक है और व्याकरण विशेषवाचक। इस लिये भी

१. शब्दे ल्युडर्थः। का० वा० १२। २. भवे च तद्धितः। का० वा० १३। ३. प्रोक्तादयश्च तद्धिताः। का० वा० १४। ४. लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्। का० वा० १५। ५. समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। म० भा० पस्पश०। ६. व्यपदेशिवदेकस्मिन्। म० भा० परिभाषा।

षष्ठी का अर्थ उपपन्न हो सकता है[1]। शब्दों की अप्रतिपत्तिरूप दोष नहीं है क्योंकि विद्वान् व्यक्ति केवल सूत्र से शब्दों का ज्ञान प्राप्त कर लेता है। उसे व्याख्यान की अपेक्षा नहीं रहती है। इसीलिये निम्न वचन प्रसिद्ध है—

'सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके ॥[2]

वर्णों के उपदेश के प्रयोजन

व्याकरण का प्रत्येक अध्येता लोकव्यवहार से ही वर्णज्ञान करके अध्ययन में प्रवृत्त होता है। और वर्णों के उपदेश से किसी के साधुत्वादि का ज्ञान भी नहीं होता है। अतः सर्वप्रथम "अइउण्" आदि चतुर्दश सूत्रों के द्वारा वर्णोपदेश का क्या प्रयोजन है? पाणिनि ने सर्वप्रथम इनका उपन्यास किस लिये किया है? इसके उत्तर में निम्न तीन प्रयोजन प्रस्तुत किये गये हैं—

(क) वृत्तिसमवायार्थं उपदेश[3] है—

(१) वृत्ति के लिये समवाय। इनमें लोकप्रसिद्ध क्रम से भिन्न एक विशेष क्रम में वर्णों का उपन्यास करना—लाघव से शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये है। इनके आधार पर इक् यण् अच् आदि प्रत्याहार निष्पन्न होते हैं जिनके फलस्वरूप शास्त्रों=सूत्रों का आकार लघु रहता है। अन्यथा सभी वर्णों का उच्चारण करने पर गौरव अपरिहार्य था।

(२) वृत्त्यर्थं समवाय—यहाँ कर्मधारय है। लक्षणा द्वारा वृत्ति का अर्थ—साधुत्व के उपयोगी शास्त्र की प्रवृत्ति का जनक—है। अथवा वृत्त्यर्थ होने से समवाय भी वृत्ति है।

(३) वृत्तिप्रयोजन समवाय—यहाँ प्रयोजन=प्रयोज्य है। शास्त्र की प्रवृत्ति प्रयोजक=प्रवर्तक है और समवाय (वर्णों का क्रमविशेष से उपन्यास) प्रयोज्य है।

(इन तीनों पक्षों की विशद विवेचना आगे हिन्दी व्याख्या में देखनी चाहिये।)

(ख) अनुबन्धकरणार्थं उपदेश[4] है—वर्णों का उच्चारण जब तक नहीं किया जाता तब तक अनुबन्ध (इत्संज्ञक वर्ण, ण्, क्, च्) आदि का लगाना सम्भव नहीं है। इसलिये भी इनका उपदेश है।

(ग) व्याकरण के लिये इष्ट वर्णों का ज्ञान कराने के लिये भी इन वर्णों का उपदेश[5] है।

यद्यपि उपदिष्ट वर्ण केवल ह्रस्व हैं अतः दीर्घ प्लुत आदि का, और उदात्तादि तीनों का तथा अन्य अपेक्षित गुणों से विशिष्ट सभी वर्णों का उपदेश करना

---

१. सामान्यविशेषशब्दतया तु द्वयोः प्रयोगो न विरुध्यते। यदा त्वष्टाध्याय्येकदेशः सूत्रशब्देनोच्यते, तदा षष्ठ्यर्थोऽप्युपपद्यते। कैयट पस्पश०। २. विष्णुधर्मोत्तर ३।५।२। ३. वृत्तिसमवायार्थं उपदेशः। का० वा० १६। ४. अनुबन्धकरणार्थश्च। का० वा० १७। ५. इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः। का० वा० १८।

आवश्यक प्रतीत होता है तथापि इनमें जाति का उपदेश समझना चाहिये[1]। अर्थात् इनमें अत्व, इत्व आदि जातियाँ उपदिष्ट हैं व्यक्ति नहीं। ये अत्वादि जातियाँ सर्वगुणविशिष्ट अकारादि में हैं। अतः सभी का ग्रहण सम्भव है। अलग उपदेश की आवश्यकता नहीं है। किन्तु जाति के उपदेशपक्ष में जैसे सभी गुणों से युक्त अकारादि का ग्रहण होता है उसी प्रकार सभी दोषों से युक्त अकारादि का भी ग्रहण प्रसक्त होगा। ये दोष कल ध्मात आदि अठारह हैं। इनका प्रतिषेध करना पड़ेगा[2]। इन दोषों को दूर करने के लिये "अ अ" (पा० सू० ८।४।६८) के समान प्रतिविधान करना चाहिये अर्थात् जिस प्रकार यह सूत्र विवृत 'अ' का संवृत करता है उसी प्रकार अन्य के विषय में भी प्रत्यापत्ति-वचन करके दोष दूर करना चाहिये[3]। साथ ही, जहाँ अनुबन्धों के द्वारा किसी कार्य का विधान किया जाता हैं वहाँ इन दोषों को पढ़ लेना चाहिये।[4] इसमें लाघव है क्योंकि न अनुबन्ध लगाने की आवश्यकता, न उनकी इत्सञ्ज्ञा करने की आवश्यकता और न लोप की। अनुबन्धों का सारा कार्य इन दोषों से चल सकता है। जैसे लक्ष्यों में अनुबन्ध-रहित शुद्ध 'अ'कारादि प्रयुक्त होते हैं वैसे यहाँ भी समझना चाहिये। यह अत्यन्त लाघव है।

परन्तु उक्त कथन आपातरमणीय है। क्योंकि ऐसा करने पर तो पाणिनि के अनेक सूत्र विकृत हो जायेंगे। पाणिनीय-प्रक्रिया का उच्छेद होने लगेगा। इस लिये इन दोषों को दूर करने का यह उपाय है कि 'गर्गादि-गण एवं विदादि-गण में गर्ग आदि के पाठ के दो प्रयोजन समझने चाहिये। एक—गर्गादि शब्दों से यञ् आदि प्रत्यय होने पर गार्ग्य आदि समुदाय ही साधु हैं अन्य नहीं, ऐसा पाठ विशेषित करना चाहिये। और दूसरा—कलादि अठारह दोषों की निवृत्ति करनी चाहिये।[5] जैसे शुद्ध अकारादि इनमें पठित हैं वैसे ही सर्वत्र समझने चाहिये। पाठरूप एक कारण से ये दो कार्य सम्भव हैं। जैसे आम के नीचे बैठकर पितरों का तर्पण करने पर आम भी सिंच जाते हैं और पितर भी तृप्त हो जाते हैं।

वास्तव में आगम, आदेश, प्रत्यय, धातु, प्रातिपदिक आदि सभी शुद्ध ही पढ़े गये हैं। कहीं भी दोष नहीं है।[6] अतः जातिपक्ष द्वारा सभी अकारादि का ग्रहण मान लेना उचित है।



---

१. आकृत्युपदेशात् सिद्धम्। का० वा० १९। २. आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः। का० वा० २०। ३. एवं तर्हि अष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि। म० भा० पस्पश०। ४. लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः। का० वा० २१। ५. एवं तर्हि उभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते कलादयश्च निवर्त्यन्ते। म० भा० पस्पश०। ६. केवलानां वर्णानां लोके प्रयोगाभावात् धात्वादीनां च शुद्धानां पाठात् तत्स्थत्वाच्च वर्णानां न कश्चिद्दोषः। कैयट पस्पश०।

श्रीमद्भगवत्-पतञ्जलि-मुनिविरचितं

व्याकरण-महाभाष्यम्

प्रकाश-व्याख्यानोपेतं पस्पशाह्निकम्

अथ[1] शब्दानुशासनम्

अथेत्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते। शब्दानुशासनं शास्त्रमधिकृतं वेदितव्यम्।

विघ्नेश्वरं सुखकरं सुसरस्वतीं च
काशीपुरीशमनिलात्मजमन्नपूर्णाम्।
सिद्धेश्वरं गुरुवरं जयशङ्करोऽहं
नत्वा तनोम्यनुपमां फणिभाष्यव्याख्याम्॥

अब शब्दों का अनुशासन (शब्दों का शिक्षण शास्त्र = व्याकरण) प्रारम्भ होता है।

(यहाँ) 'अथ' यह शब्द अधिकारार्थ = प्रारम्भार्थक प्रयुक्त (किया गया) है। शब्दानुशासन शास्त्र (बनाना है, इस रूप में यहाँ से) अधिकृत = प्रारम्भ हुआ (है, ऐसा) समझना चाहिये।

महाभाष्य के प्रथम आह्निक को पस्पश-आह्निक कहा जाता है। पस्पश शब्द की निष्पत्ति 'स्पश्' बाधन-स्पर्शनयोः' (भ्वादिगण) से होती है। यहाँ स्पर्शन = ग्रन्थन है। इसी धातु के यङ्लुगन्त से अच् (नन्दिग्रहिपचादिभ्यः ल्युणिन्यचः पा० सू० ३।१।१३४) प्रत्यय होता है। कोशकारों ने पस्पश शब्द के अर्थ— प्रस्तावना, भूमिका आदि लिखे हैं। अह्ना निर्वृत्तम्—एक दिन में पढ़ाया जाने वाला—आह्निक। यह तत्कालीन अध्ययन-अध्यापन की उत्कृष्टता का सूचक है। भाष्य का लक्षण—

सूत्रार्थो वर्ण्यते यत्र वर्णैः सूत्रानुसारिभिः।
स्वपदानि च वर्ण्यन्ते भाष्यं भाष्यविदो विदुः। विष्णुधर्मोत्तर।

१. कैयट, भट्टोजिदीक्षित एवं नागेशभट्ट प्रभृति प्राचीन वैयाकरण इस वचन को भाष्यकार पतञ्जलि का ही मानते हैं क्योंकि भाष्य के लक्षणानुसार अपने पदों का भी व्याख्यान किया जाता है। परन्तु मनुस्मृति के व्याख्याकार मेधातिथि आदि कुछ विद्वानों ने इसे पाणिनि का प्रथम सूत्र स्वीकार किया है

केषां शब्दानाम्[1] ?

लौकिकानां[2] वैदिकानां च । तत्र लौकिकास्तावद्—गौः अश्वः पुरुषः हस्ती शकुनिः मृगः ब्राह्मण इति ।

किन शब्दों का (अनुशासन प्रारम्भ किया जा रहा है) ?

लौकिक एवं वैदिक (दोनों प्रकार के शब्दों) का (अनुशासन प्रारम्भ

क्योंकि अन्य सूत्रकारों ने अपने ग्रन्थों में यही शैली अपनायी है । परन्तु "वृद्धिरादैच्" (पा० सू० १।१।१) सूत्र के भाष्य के अनुसार पाणिनि का प्रथम सूत्र "वृद्धिरादैच्" ही है । श्री पण्डित गुरुप्रसाद शास्त्री ने इसे कात्यायन का वार्तिक सिद्ध किया है किन्तु उनका कथन 'सिद्धे शब्दार्थ—सम्बन्धे' इस वार्तिक पर भाष्यकार के कथन से सर्वथा विरुद्ध होने से असंगत है । इसे भाष्यकार पतञ्जलि का मंगलवचन मानना अधिक तर्कसंगत है ।

शब्दानाम् अनुशासनम्-शब्दानुशासनम्-यहाँ षष्ठी—तत्पुरुष समास है। अनुशासन कृदन्त शब्द के योग में 'शब्दानाम्' यहाँ कर्म अर्थ में षष्ठी है। अनुशासन क्रिया के कर्म शब्द हैं । पाणिनि कर्त्ता हैं । स्वतः प्रतीयमान होने से उनका उल्लेख नहीं है । अतः कर्त्ता एवं कर्म दोनों का प्रयोग यहाँ नहीं है । इस लिए "उभयप्राप्तौ कर्मणि" (पा० सू० २।३।६६) सूत्र की प्रवृत्ति सम्भव नहीं है । इस स्थिति में "कर्तृकर्मणोः कृति" (पा० सू० २।३।६५) सूत्र से ही षष्ठी होती है । इससे विहित षष्ठी-स्थल में "कर्मणि च" (पा० सू० २।२।१४) सूत्र से षष्ठी-समास का निषेध नहीं होता है । इध्मस्य प्रव्रश्चनः—इध्मप्रव्रश्चनः के समान समास होने में कोई बाधा नहीं है ।

शब्दानुशासन यह व्याकरण का अन्वर्थ नाम है ।

१. शब्दानुशासनम् इस षष्ठी—तत्पुरुष में 'शब्द' विशेषण है और 'अनुशासन' विशेष्य । अतः 'शब्दानाम्' यह एक देश है । इसका परामर्श 'केषाम्' इस सर्वनाम द्वारा नहीं हो सकता । यहाँ अनुशासन के विषय में ही प्रश्न करना उचित था—'कीदृशं शब्दानुशासनम्' ? और उत्तर भी इसी रीति से होना चाहिए था—'लौकिकं वैदिकं च शब्दानुशासनम्' न कि 'लौकिकानां वैदिकानां च' यह । इस शंका का उत्तर यह है कि यहाँ पूर्वपदार्थ (शब्द) उत्तरपदार्थ (अनुशासन) के प्रति संसृष्ट है, विशेषण है, यह ठीक है किन्तु बुद्धि से इस पूर्व पदार्थ का विभाग करके परामर्श किया जाता है । जैसे 'राजपुरुषोऽयम्' यहाँ 'कस्य राज्ञः' यह कहा जाता है । यही स्थिति यहाँ भी है ।

२. पाणिनीय व्याकरण में लौकिक एवं वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों का अनुशासन है । लोक में होने वाले लौकिक और वेद में होने वाले वैदिक शब्द

वैदिका:[1] खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये (अथर्व १. १. १.)। इषे त्वोर्जेत्वा (यजु० १. १. १)। अग्निमीलेपुरोहितम् (ऋक् १. १. १)। अग्न आयाहि वीतये (साम० १. १. १) इति।

अथ गौरित्यत्र क: शब्द:[2] ?

किया रहा है) लौकिक शब्द जैसे—गौ:, अश्व:, पुरुष:, हस्ती (हाथी), शकुनि: (पक्षी), मृग:, ब्राह्मण: (आदि)।

वैदिक शब्द जैसे—शन्नो देवीरभिष्टये (अथर्व), इषे त्वोर्जेत्वा (यजु:), अग्निमीले (ऋक्), अग्न आयाहि वीतये (साम०)।

शब्दस्वरूप का विवेचन

अब 'गौ:' (यह गाय है—) इस (ज्ञान) में शब्द (तत्त्व) क्या है ?

हैं। यद्यपि वैदिक शब्द भी लोकान्तर्गत होने से लौकिक ही हैं तथापि उनकी प्रधानता बतलाने के लिए पृथक् उपादान है। और व्यापक होने से तथा इस व्याकरण के मुख्य लक्ष्य होने से लौकिक शब्दों का पहले उल्लेख है।

१. वैदिक शब्दों की आनुपूर्वी अपरिवर्तनीय है। अत: मन्त्रभाग उद्धृत हैं। सामान्यतया ऋग् यजु: साम एवम् अथर्व—यही क्रम दृष्टिगोचर होता है। किन्तु भाष्यकार के विपरीत क्रम का यह रहस्य है कि वेद यज्ञों के लिए हैं। अत: यज्ञीय उपयोगिताक्रम से इनका उल्लेख है। "यज्ञैरथर्वा प्रथम: पथस्तते (ऋक् १।६।४।५) इस कथन से अथर्व मुनि यज्ञप्रक्रिया के प्रथम प्रकाशक हैं। इन्हीं के द्वारा प्रोक्त होने से अथर्व वेद अभ्यर्हित है और मंगल-सूचक 'शम्' शब्द से घटित है। अत: सबसे पहले अथर्व का मन्त्रभाग उद्धृत करना तर्कसंगत है। "अध्वर्यु: ऋत्विक्०" इसके अनुसार प्रथम अध्वर्यु-कर्म के मन्त्र का प्रकाशक होने से और गद्यात्मक होने के कारण पद्यात्मक ऋक् एवं गीत्यात्मक साम की अपेक्षा सुज्ञेय होने से ऋगादि के पहले यजु: का उल्लेख है। ऋग्वेद के मन्त्रों पर आधृत होने से सामवेद गौण है। अत: ऋग्वेद मन्त्र का उल्लेख पहले करने के बाद सामवेद के मन्त्र का उल्लेख है।

२. लोक में शब्द और अर्थ का व्यवहार अभिन्नरूप से ही देखा जाता है। अत: सामने दृश्यमान पशुविशेष का ज्ञान होने पर उस ज्ञान के विषयरूप से भासित होने वाली जो जो वस्तुयें हैं उनमें कौन सी वह वस्तु है जिसे शब्द कहा जाता है। यह पृथक् करके बताना इस प्रश्न का रहस्य है। यहाँ ज्ञान में गोव्यक्ति, उसकी आकृति और गोत्वजाति इन तीन का भान होता है। इनके साथ शब्द का अभेद अनुभव में आता है। अत: इनमें शब्दत्व को शंका और उसका निराकरण तर्कसंगत है। परन्तु गुण (रंग) एवं क्रिया में शब्दत्व की शंका उचित नहीं

किं यत्तत् सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाण्यर्थरूपम्, स शब्दः ?
नेत्याह, द्रव्यं नाम तत्।
यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितम्, स शब्दः ?
नेत्याह, क्रिया नाम सा।
यत्तर्हि तत् शुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति, स शब्दः[1] ?
नेत्याह, गुणो नाम सः।
यत्तर्हि तत् भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतम्,[2] स शब्दः ?
नेत्याह, आकृतिर्नाम सा।

क्या जो सास्ना (गाय के गले में लटकनेवाली खाल), पूँछ, ककुद (कन्धे पर उठा हुआ मांस), खुर और सींग-से युक्त पदार्थरूप (है), वह शब्द (है) ? (अर्थात् मांसपिण्डरूप पशु शब्द है ?)

(वैयाकरण) नहीं—ऐसा कहता है। वह तो द्रव्य है। (भिन्न इन्द्रिय से ग्राह्य होने से द्रव्य को शब्द नहीं माना जा सकता)।

तो क्या जो इस (गो व्यक्ति) का इंगित (अपने अभिप्राय की सूचक रोमाञ्चादि क्रिया), चेष्टित (शरीर का हिलना चलना आदि) निमिषित (आँखें बन्द करना खोलना है), वह शब्द (है) ?

(वैयाकरण) नहीं—ऐसा कहता है। वह (तो) क्रिया (है)।

तो क्या जो शुक्लत्व, नीलत्व कपिलत्व (भूरा और) कपोतत्व (चितकबरा रंग है), वह शब्द (है) ?

(वैयाकरण) नहीं—ऐसा कहता है। वह (तो) गुण (रंग है)।

तो क्या जो भिन्न (भिन्न पदार्थों) में अभिन्न (एकरूप), (और) छिन्न (नष्ट होनेवाले पदार्थों) में भी अच्छिन्न (नष्ट न होनेवाला) (सभी में) सामान्यभूत (जातिरूप है), वह शब्द (है) ?

(वैयाकरण) नहीं—ऐसा कहता है। वह तो आकृति = जाति (है)।

प्रतीत होती है। इसका उत्तर यह है कि गुण एवं गुणी (द्रव्य) का तथा क्रिया एवं क्रियावान् (द्रव्य) का अभेद होता है। द्रव्यरूप गुणी=अर्थ का और शब्द का अभेद है। अतः तदभिन्नाभिन्नस्य तदभिन्नत्वम्—न्याय से गुण और क्रिया में भी शब्दत्व-शंका उचित हैं। तद = शब्द से अभिन्न = द्रव्य (गुणी और क्रियावान् अर्थ) है और द्रव्य से अभिन्न = गुण एवं क्रिया है। अतः ये दोनों (गुण-क्रिया) भी शब्द से अभिन्न हो जाते हैं। इनमें भी शब्दत्वशंका उपपन्न ही है।

१. द्रव्यस्य प्रागुपन्यासाद् गुणमात्राभिधायिनोऽत्र शुक्लादयो द्रष्टव्याः। कैयट।

२. 'भूतशब्दः उपमार्थे'—कैयट। किन्तु 'स्वरूपवाची सः'—नागेश।

कस्तर्हि शब्दः ?

येनोच्चारितेन सास्ना-लाङ्गूल-ककुद-खुर-विषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति, स शब्दः[1] ।

अथवा—प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः शब्द इत्युच्यते । तद्यथा-शब्दं

तो फिर शब्द (तत्त्व) क्या (है) ?

स्फोटरूप शब्द

उच्चारित (ध्वनियों से अभिव्यक्त होने वाले) जिसके द्वारा सास्ना (गले में लटकने वाली खाल), पूँछ, ककुद (कंधे पर ऊँचा उठा हुआ मांसपिण्ड) खुर एवं विषाण-वाले (पशुओं) का ज्ञान होता है, शब्द है ।

ध्वनिरूप शब्द

(उपर्युक्त स्फोटात्मक शब्दस्वरूप साधारणजनवेद्य नहीं है । अतः लोक में शब्दरूप से प्रसिद्ध ध्वनि का उल्लेख किया जा रहा है—)

अथवा लोक (व्यवहार) में पदार्थ की प्रतीति (ज्ञान) कराने वाली ध्वनि 'शब्द' ऐसी कही जाती जाती है । जैसे—(ध्वनि करने वाला ध्वनि करना बन्द न करे इस उद्देश्य से कहा जाता है) 'शब्द करो', (ध्वनि सुन कर क्रुद्ध व्यक्ति कहता है) 'शब्द मत करो', 'यह वटुक शब्द करनेवाला है'—ऐसा ध्वनि

१. भाष्य में शब्द के दो स्वरूप प्रतिपादित किये गये हैं । एक व्याकरण दर्शन का स्फोटरूप शब्द है और दूसरा लोकप्रसिद्ध ध्वनिरूप शब्द है । वैयाकरणों का यह मत है कि वैखरी ध्वनि जो हम सुनते हैं उच्चारित होने के बाद नष्ट होती रहती है । इन नष्ट ध्वनियों को वाचकताशक्ति का आश्रय अर्थात् वाचक बनाना सम्भव नहीं है । इस लिये इन ध्वनियों से प्रकाशित या अभिव्यक्त होने वाला एक अन्य तत्त्व है, जिसे स्फोट कहते हैं, यही वाचक होता है । यह स्फोट वैखरी ध्वनियों से व्यक्त होता है और अर्थ का प्रतिपादक होता है । इसलिये स्फोट की द्विविध व्युत्पत्ति की गई है—

१. स्फुट्यते=अभिव्यज्यते वैखरी-ध्वनिरूपवर्णैरिति स्फोटः

२. स्फुटति=व्यक्तीभवति अर्थो यस्मात् सः स्फोटः ।

वास्तव में यह स्फोटात्मक शब्द नित्य, विभु एवम् अखण्ड है किन्तु इसकी प्रतीति अभिव्यञ्जक ध्वनियों से ही होती है । अतः इन ध्वनियों का जो रूप (क्रम) रहता है उसी प्रकार का स्फोट भासित होता है । व्यञ्जक के नानात्व आदि के कारण व्यङ्ग्य स्फोट शब्द में नानात्वादि नहीं होते हैं । इसके काल्पनिक आठ भेद हैं—(१) वर्णस्फोट, (२) पदस्फोट, (३) वाक्यस्फोट, (४) वर्णजातिस्फोट, (५) पदजातिस्फोट, (६) वाक्यजातिस्फोट, (७) अखण्ड-

कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवकः, इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनि[1]: शब्दः।

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि ?

रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्[2]।

(१) रक्षार्थं[3] वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग् वेदान् परिपालयिष्यतीति।

करने वाले से कहा जाता है। इसलिये ध्वनि (ही) शब्द है। (अर्थात् अर्थ-बोधक ध्वनि शब्द है।)

व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन

(प्रयोजन जानने पर ही कोई भी व्यक्ति अध्ययन में प्रवृत्त होता है। अतः इसका विशद विवेचन किया जा रहा है)

शब्दानुशासन (व्याकरण—अध्ययन) के कौन-कौन (मुख्य) प्रयोजन हैं ?

(१) रक्षा, (२) ऊह, (३) आगम, (४) लघु (लाघव) और असन्देह (सन्देह का प्रागभाव)—(ये पाँच मुख्य) प्रयोजन हैं।

(१) रक्षा—वेदों की रक्षा के लिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

पदस्फोट, (८) अखण्डवाक्यस्फोट। वैयाकरण वाक्य-स्फोट को मुख्य मानते हैं। स्फोट का विशेष विवेचन वाक्यपदीय, वैयाकरणभूषण, वैयाकरण-सिद्धान्तमञ्जूषा एवं स्फोटवाद आदि में देखना चाहिये।

१. शब्दानित्यतावादी नैयायिकादि ध्वनि को ही शब्द मानते हैं। स्फोटतत्त्व का प्रबल खण्डन करते हैं।

२. रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्—यहाँ एक पद बहुवचनान्त है और 'प्रयोजनम्' एकवचनान्त। इसका सामञ्जस्य करने के लिये 'प्रयोजनम्' शब्द में एकवद्भाव माना जाता है। इसमें पाँच प्रयोजन शब्दों में एक प्रयोजन पुंलिग है और उसका अर्थ प्रयोजक है। वह आगम (वेदवाक्य) है। शेष चार प्रयोजन=फलवाची हैं। अतः प्रयोजनं च प्रयोजनं च प्रयोजनः च प्रयोजनं च प्रयोजनं च—इनमें "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चास्यान्यतरस्याम्" (पा० सू० १।२।६९) सूत्र से नपुंसक शब्द शेष बचता है और उसका वैकल्पिकरूप से एकवद्भाव हो जाता है। इसलिये प्रयोजनम् और प्रयोजनानि दोनों समानार्थक हो जाते हैं। एक-वचनान्त रहने पर भी उसका वही अर्थ है जो बहुवचनान्त प्रयोजनानि का।

असन्देहः—न सन्देहः—यहाँ नञ् का अर्थ प्रागभाव है, सन्देह का पहले से ही न होना। सन्देह होकर नष्ट होना—ऐसा प्रध्वंसाभाव नहीं विवक्षित है। क्योंकि वैयाकरण को सर्वथा सन्देह न होना ही विवक्षित हैं।

३. वेद में वर्णों का लोप, किसी नवीन वर्णादि का आगम और वर्णपरि-

(२) ऊहः[१] खल्वपि। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभिर्विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन यथाऽर्थं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथाऽर्थं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्।

क्योंकि (वर्णादि के) लोप, आगम और वर्णविकार (आदेश) को जानने वाला (विद्वान् ही) वेदों की रक्षा सम्यग्रूप से करेगा (कर सकता है)।

(२) ऊह (अपेक्षित परिवर्तन कर सकना) भी (व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन है)। वेद में मन्त्र सभी लिंगों (सर्वलिंगबोधक पदों) और सभी विभक्तियों (सर्वविभक्त्यन्त पदों) के साथ (युक्त) नहीं पढ़े गये हैं। यज्ञ में प्रवृत्त व्यक्ति को उन्हें अर्थानुसार अवश्य बदल लेना चाहिये। (किन्तु) व्याकरण

वर्तन (आदेश) जिन शब्दों में देखा जाता है लौकिक संस्कृत के कुछ शब्दों में वैसा नहीं देखा जाता है। अवैयाकरण ऐसे वैदिक शब्दों को अशुद्ध समझने लगेगा। पाठ भ्रष्ट कर देगा। उदाहरणार्थ—लौकिक संस्कृत में 'देवा अदुहत' यह रूप होता है किन्तु वैदिक में 'देवा अदुह्र'। लौकिक से भिन्न यहाँ रुट् (र्) का आगम और त का लोप है। इसी प्रकार लौकिक में जहार और उद्ग्राह आदि रूप होते हैं वैदिक में जभार एवम् उद्ग्राभ आदि। व्याकरणवेत्ता इन परिवर्तनों के नियमों (सूत्रादि) से परिचित रहता है। अतः इस अन्तर को समझ कर शुद्ध रूप ही पढ़ता है। इस प्रकार वेदों की रक्षा करता है। कैयट-प्रदीप में इसका विशेष विवेचन देखना चाहिये।

१. जिसमें सागोपांग विधि उल्लिखित रहती है उसे प्रकृतियाग कहते हैं। जिनमें कुछ का उल्लेख रहता है और कुछ प्रकृतियाग के आधार पर कल्पित की जातीं हैं उसे विकृतियाग कहते हैं। प्रकृतियाग में मन्त्रों के देवतादिवाचक शब्द जैसे उपदिष्ट रहते हैं उसी के अनुसार विकृतियाग में परिवर्तन करना ऊह कहा जाता है। सभी इष्टियागों की प्रकृति दर्शपूर्णमास याग है और सोमयागों की प्रकृति अग्निष्टोम याग। मीमांसा के 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' न्यायानुसार विकृतियाग में अपेक्षित कल्पना की जाती है। यह ऊह है। प्रकृति आग्नेय याग में यह मन्त्र पठित है—''अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि।'' किन्तु विकृति सौर्ययाग में केवल यही पठित है—सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः (ब्रह्मतेज का अभिलाषी चरु से सूर्य के लिये हवन करे)। प्रकृतियाग में पठित 'अग्नये' के समान इस विकृतियाग में 'सूर्याय' ऐसा प्रकृति (प्रातिपदिक) का ऊह किया जाता है। विभक्ति तो वही चतुर्थी ही है। भाष्य में लिंग एवं विभक्ति प्रकृति आदि के भी उपलक्षण हैं। अतः ऊह द्वारा 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' यह कल्पित किया जाता है।

(३) आगमः खल्वपि । "ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च" इति । प्रधानं[1] च षट्स्वङ्गेषु व्याकरणम् । प्रधाने कृतो यत्नः फलवान् भवति ।

(४) लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम् । "ब्राह्मणेनावश्यं[2] शब्दा ज्ञेयाः" इति, न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या विज्ञातुम् ।

(५) असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम् । याज्ञिकाः पठन्ति--"स्थूल-पृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेत" इति ।

न जाननेवाला उन्हें अर्थानुसार बदल नहीं सकता । इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये । (यथायथम्—ऐसे पाठ में 'उचित रीति से' यह अर्थ होता है ।)

(३) आगम (वेदवचन) भी (व्याकरणाध्ययन का प्रयोजन = प्रयोजक = प्रवर्तक है) । "ब्राह्मण को निष्कारण (दृष्ट किसी कारण=फल की अपेक्षा के विना ही) धर्मरूप, (शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द एवं ज्योतिष— इन) छह अंगों वाले वेद का अध्ययन (पाठ) करना चाहिये और (उसके अर्थ का) ज्ञान करना चाहिये । (इन) छह अंगों में व्याकरण (ही) प्रधान (है) । और प्रधान के विषय में किया गया यत्न (अधिक) फलवाला होता है ।

(४) और लाघव के लिये (भी) व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये । "ब्राह्मण को शब्दों का ज्ञान अवश्य करना चाहिये ।" और व्याकरण के अतिरिक्त किसी अन्य लघु उपाय द्वारा (अधिकाधिक) शब्दों का ज्ञान नहीं किया जा सकता ।

(५) असन्देह के लिये (भी) व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये । याज्ञिक (यज्ञकाण्ड में वैदिक शब्द) पढ़ते हैं—"स्थूलपृषती गाय को अग्नि एव वरुण देवताओं के उद्देश से आलम्भन परित्याग, समर्पण करे ।" (यहाँ स्थूलपृषतीम्) इस (विशेषण पद के अर्थ) के विषय में सन्देह (होता है)— वह स्थूल (भी है) और बिन्दुवाली (भी) है (यह अर्थ है) अथवा स्थूल

---

१. क्योंकि पद और पदार्थ का ज्ञान व्याकरण से होता है । यह पद-पदार्थ—ज्ञान वाक्य एवं वाक्यार्थज्ञान का मूल है । अतः वेदवाक्यार्थ—ज्ञान में व्याकरण की प्रधानता स्पष्ट है ।

२. क्योंकि ब्राह्मण की जीविका का प्रधान साधन अध्यापन है । सुन्दर अध्यापन के लिये उपयोगी अधिकाधिक शब्दों का ज्ञान अपेक्षित है । अल्पशब्दज्ञ वास्तव में अल्पज्ञ है । अतः ऐसे अध्यापक के पास विद्यार्थी अध्ययनार्थ नहीं आते हैं ।

तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च, स्थूलानि वा पृषन्ति यस्याः सा—स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति । यदि पूर्वपदप्रकृतिस्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ अन्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ।[1]

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि—तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण—इति ।

विन्दु हैं जिसके (शरीर में) वह (गाय)—स्थूलपृषती (है)। व्याकरण न जाननेवाला स्वरद्वारा इसका अध्यवसाय (निर्णय) नहीं करता है (नहीं कर सकता है)। यदि (स्थूलपृषतीम्—इस समास के) पूर्वपद (स्थूल) का प्रकृतिस्वर=अपना स्वर है तो उससे बहुव्रीहि (समझना चाहिये) और यदि (समस्तपद का) अन्तिम स्वर (ईकार) उदात्त है तो इससे तत्पुरुष (समझना चाहिये)। (यहाँ पूर्वपद का प्रकृतिस्वर होने से बहुव्रीहि के अर्थ का ही निश्चय होता है।)

व्याकरणाध्ययन के तेरह आनुषङ्गिक प्रयोजन

शब्दानुशासन (व्याकरण) के ये और भी (तेरह) प्रयोजन हैं—(१) वे असुर लोग। (२) दोषयुक्त शब्द। (३) जो पढ़ा। (४) जो प्रयोग करता है। (५) अविद्वान्। (६) विभक्ति लगाते हैं। (७) जो इस (वाणी) को। (८) चार (९) और अन्य। (१०) सत्तुओं के समान। (११) सरस्वती देवीसम्बन्धी। (१२) दशमी (रात्रि के उत्तर काल) में। (१३) हे वरुण ! सुदेव हो।

---

१. वेदार्थ-निर्णय में स्वर अत्यन्त सहायक हैं। स्वरों का सम्यक् ज्ञान व्याकरणाध्ययन से ही सम्भव है। प्रस्तुत मन्त्र के समासार्थ का निर्णय स्वर से ही होता है। "बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम्" (पा० सू० ६।२।१) बहुव्रीहि में पूर्वपद=स्थूल का प्रकृतिस्वर=अपना स्वर (उदात्त) रहता है और शेष अनुदात्त होता है। "फिषोऽन्त उदात्तः" (फि० सू० १।१) से स्थूल शब्द अन्तोदात्त है। इसके बाद वाला ऋ (पृ) स्वरित हो जाता है। अतः 'स्थूलपृषतीम्' यह रूप होता है। तत्पुरुष में "समासस्य" (पा० सू० ६।१।२२३) से अन्तोदात्त (ई उदात्त) होता है और शेष अनुदात्त। कर्मधारय तत्पुरुष में पृषती की पृषद्वती (मत्वर्थ) में लक्षणा की जाती है। ये दोनों गाय के विशेषण होते हैं। किन्तु बहुव्रीहि में 'स्थूल' यह पृषत् (विन्दु) का विशेषण है गाय का नहीं। स्थूल-विन्दुवाली गाय—यह अर्थ है।

(१) तेऽसुराः—

तेऽसुराः हेऽलयो हेऽलय[1] इति कुर्वन्तः पराबभूवुः। तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै=नापभाषितवै, म्लेच्छो[2] ह वा एष यदपशब्दः। म्लेच्छा मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। तेऽसुराः।

(२) दुष्टः शब्दः—

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो[3] न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोऽपराधात्[4] ॥ इति

---

(१) वे असुर लोग—

वे असुर लोग हेलयः हेलयः (=हे अरयः हे अरयः)—ऐसा चिल्लाते हुये पराजित हो गये। इस लिये ब्राह्मण को म्लेच्छन नहीं करना चहिये—अप-भाषण नहीं करना चाहिये। क्योंकि यह अपशब्द निश्चय ही म्लेच्छ है। (हम) म्लेच्छ=अपशब्दवक्ता न हो जांय—इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। वे असुर लोग।

(२) दोषयुक्त शब्द—

(उदात्तादि) स्वर से अथवा (अकारादि) वर्ण से (इन दोनों में किसी भी दृष्टि से) दोषयुक्त (अत एव) मिथ्याप्रयुक्त शब्द उस (विवक्षित) अर्थ को नहीं कहता है। वह वाणीरूपी वज्र यजमान को (उसी प्रकार) मार डालता है जिस प्रकार स्वर के अपराध (दोष) से 'इन्द्रशत्रु' (शब्द) ने

---

१. हेलयो हेलयः— इसमें तीन अशुद्धियाँ हैं —

(क) है-हे-प्रयोगे हैहयोः (पा० सू० ८|२|२५) सूत्र से 'हे' का प्राप्त प्लुत और प्रकृतिभाव न करना, इसके विपरीत पूर्वरूप सन्धि करना।

(ख) एक-एक पद का द्वित्व न करके पदसमुदाय—हेलयो हेलयः—वाक्य का द्वित्व करना।

(ग) अरयः के स्थान पर 'ल' करके अलयः पढ़ देना।

२. म्लेच्छ्यते=अपशब्द्यते यः सः म्लेच्छः। इस प्रकार कर्म अर्थ में घञ् (अ) प्रत्यय होने से म्लेच्छ अपशब्द का समानार्थक है। किन्तु दूसरा 'म्लेच्छाः' अपशब्दवक्ता अर्थ का वाचक है।

३ जिस अर्थ का प्रतिपादन करने के लिये शब्द प्रयुक्त किया गया है उसे न कह कर स्वर या वर्ण के दोष के कारण अन्य अर्थ को कहने लगता है। अभिमत अर्थ को नहीं कह पाता है।

४. शतपथब्राह्मण आदि ग्रन्थों में यह कथानक प्राप्त होता है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप का वध इन्द्र ने कर दिया था। इससे क्रुद्ध होकर त्वष्टा ने इन्द्र-

दुष्टाञ्छब्दान् मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । दुष्टः शब्दः ।

(३) यदधीतम्—

यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते ।
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।

तस्मादनर्थकं माधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । यदधीतम् ।

(४) यस्तु प्रयुङ्क्ते—

यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले ।
सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।

(वृत्रासुर को मार डाला) । (हम लोग) दोषयुक्त शब्दों का प्रयोग न करें, इस लिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये । दोषयुक्त शब्द ।

(३) जो पढ़ा—

जो (मन्त्रादि अक्षरादिरूप में तो) पढ़ा किन्तु (अर्थ) नहीं, समझा (वह) केवल पाठ (मात्र) से पुनः पुनः उच्चारित किया जाता है । अग्निरहित (राख आदि के ढेर वाले स्थान) में सूखी लकड़ी के समान वह (पढ़ना) कभी भी नहीं जलता है, नहीं प्रकाशित होता है । (अर्थज्ञानरहित अध्ययन सर्वथा निष्फल होता है ।) हम लोग निष्फल (अनर्थक) अध्ययन न करें । इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये । जो पढ़ा ।

(४) जो प्रयुक्त करता है—

(शब्दों के प्रयोग में) कुशल जो व्यक्ति व्यवहारकाल में (अर्थ-) विशेष

घातक पुत्र की उत्पत्ति की इच्छा से एक आभिचारिक याग किया था। इस याग में "स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" इस मन्त्र का प्रयोग किया गया था। इसमें 'शत्रु' शब्द क्रियावाचक यौगिक है—शातयति=घातयति इति शत्रुः=घातकः, अरिवाचक रूढ़ नहीं है। क्योंकि रूढ़ मान लेने पर बहुव्रीहि एवं तत्पुरुष के तात्पर्य में कोई अन्तर नहीं रहता है । इस मन्त्र का अर्थ यह है कि हे अग्नि ! तुम इस प्रकार बढ़ो कि तुम्हारी ज्वालाओं से उत्पन्न पुरुष (वृत्र) इन्द्रशत्रु= इन्द्रघातक बने । इन्द्रशत्रुः—में इन्द्रस्य शत्रुः इस षष्ठीतत्पुरुष में—इन्द्र का वध करने वाला—यह अर्थ होता है । और इन्द्रः शत्रुः=घातकः यस्य सः—इस बहुव्रीहि में—इन्द्र ही जिसका वध करने वाला है—यह अर्थ होता है । यहाँ तत्पुरुष विवक्षित था। इसके लिये अन्तोदात्त पढ़ना चाहिये था। किन्तु अज्ञानवश पूर्वपद (शत्रु) का प्रकृतिस्वर (आद्युदात्त) पढ़ दिया गया जिससे बहुव्रीहि का अर्थ हो गया। इसीलिये उस उत्पन्न वृत्र के घातक इन्द्र ही हुये। इन्द्र ने उसका वध कर दिया। वह वृत्र इन्द्र का घातक नहीं हो सका।

कः ?

वाग्योगविदेव ।

कुत एतत् ?

यो हि शब्दान् जानाति, अपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव हि शब्द-ज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः ।

अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा--गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

अथ योऽवाग्योगविद्, अज्ञानं तस्य शरणम् ।

विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाज्ञानं शरणं भवितुमर्हति । यो ह्यजानन् वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्, सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् ।

में शब्दों का यथावत् (समस्तदोषरहितरूप में) प्रयोग करता है वह वाग्योगविद्=शब्द, अर्थ एवं सम्बन्ध को जानने वाला वैयाकरण परलोक में अनन्त उत्कर्ष प्राप्त करता है । अपशब्दों (के प्रयोग) के कारण दोष (पाप) भी प्राप्त करता है ।

कौन (दोष प्राप्त करता है) ?

वाग्योगविद्=वैयाकरण ही (दोष प्राप्त करता है) ।

यह कैसे (ज्ञात होता है) ?

क्योंकि जो शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है । जैसे शब्दों के ज्ञान में धर्म (होता है), इसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म भी (होता है) ।

अथवा अधर्म अधिक प्राप्त करता है । (क्योंकि) अपशब्द अधिक हैं, (इनकी तुलना में) शब्द कम हैं । एक एक (शुद्ध) शब्द के बहुत अपभ्रंश (शब्दरूप) होते हैं । जैसे—गौः इस (एक शुद्ध शब्द) के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका (और आजकल गइया, गाय, गऊ,)—आदि इस प्रकार के (अनेक) अपभ्रंश हैं ।

और जो अवाग्योगविद्=शब्दार्थसम्बन्ध न जाननेवाला अवैयाकरण है, उसका शरण (रक्षक) अज्ञान है । (अज्ञानता के कारण वह पापभागी नहीं होता है ।)

(आपका यह) कथन विषम (असंगत) है । (क्योंकि) अज्ञान अत्यन्त (पूर्णरूप से) रक्षक नहीं हो सकता है । क्योंकि विना जानते हुये जो ब्राह्मण का वध कर दे अथवा सुरा पी ले; (मैं यही) मानता हूँ वह भी पतित (पाप-भागी) होगा (ही) ।

एवं तर्हि--

सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः।

कः ?

अवाग्योगविदेव।

अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं तस्य शरणम्।

क्व पुनरिदं पठितम् ?

भ्राजा नाम श्लोकाः।

किं च भोः! श्लोका अपि प्रमाणम् ?

किं चातः ?

यदि प्रमाणम्, अयमपि प्रमाणं भवितुमर्हति—

यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत्।

पीतं न गमयेत् सर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत्॥ इति।

प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः।[1] यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत् प्रमाणम्।

यदि ऐसा है तो—

"वह वाग्योगविद् परलोक में अनन्त उत्कर्ष प्राप्त करता है और अपशब्दों के कारण दूषित (पापभागी) होता है।"

(यहाँ दुष्यति क्रिया का कर्ता) कौन ? (कौन दूषित होता है ?)

शब्दार्थ-सम्बन्ध न जाननेवाला (अवैयाकरण) ही (दोषभागी होता है)। (क्योंकि) जो वाग्योगविद् है, विशिष्ट ज्ञान (पाप से) उसका रक्षक है। (वैयाकरण शब्द और अपशब्द दोनों को जानता है, किन्तु प्रयोग केवल शब्दों का ही करता है। अतः अभ्युदय प्राप्त करता है।)

यह (वचन) कहाँ पढ़ा गया है ? (वह क्या है जिसमें यह वचन पठित है ?)

(कात्यायनप्रणीत) भ्राजनामक श्लोक हैं। (उन्हीं में यह भी पढ़ा गया है।)

क्यों महोदय ! श्लोक भी प्रमाण होते हैं ?

इस (प्रश्न) से क्या (कहना चाहते हो) ?

यदि (वह श्लोक) प्रमाण है तो यह (श्लोक) भी प्रमाण हो सकता है—

ताम्रवर्णवाली (लाल लाल) सुराहियों (में स्थिर सुरा) का बड़ा जो समुदाय पान किया गया होता हुआ स्वर्ग नहीं पहुँचाता है तो (सौत्रामणि) यागसम्बन्धी (पी गयी) वह (थोड़ी सी सुरा) (स्वर्ग) कैसे पहुँचा सकती है।

---

१. तत्त्वं (वेदविषयविप्रतिपत्त्याश्रयत्वं) स्वस्मिन्नारोप्य दैत्यनाशाय पूज्यस्यापि भगवत ईश्वरस्य तथोक्तिरिति स न प्रमाणमिति भावः। नागेश।

यस्तु प्रयुङ्क्ते ।

(५) अविद्वांसः—

अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः ।
कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥

स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । अविद्वांसः ।

(६) विभक्तिं कुर्वन्ति—

याज्ञिकाः पठन्ति—"प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः" इति । न

पूज्य (ईश्वर) का यह वचन प्रमाद से कहा गया है। जो प्रमादरहित होकर कहा जाता है वही प्रमाण होता है।

(५) अज्ञानी

जो अज्ञानी लोग प्रत्यभिवादन=अभिवादन के उत्तर (आशीर्वाक्य) में (अभिवादनकर्ता के) नाम की टि (अन्तिम स्वर) को प्लुत करना नहीं जानते हैं, ऐसे व्यक्तियों के प्रति प्रवास से वापस आकर, यथेष्ट रूप से (विध्यादि के विना ही) स्त्रियों के (विषय के) समान 'अयम् अहम्' (यह मैं अभिवादन करता हूँ)—ऐसा कहे ।[1]

हम (भी) स्त्रियों के समान (अभिवादनयोग्य) न हों जाँय, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

(६) विभक्ति (प्रयुक्त) करते हैं (विभक्त्यन्त करें)—

याज्ञिक पढ़ते हैं—"प्रयाज[2] (मन्त्र) विभक्तियुक्त करें।" व्याकरण के

---

१. मनुस्मृति आदि धर्मग्रन्थों में अभिवादन एवं प्रत्यभिवादन की विधि वर्णित है। तदनुसार अपने गुरुजनों आदि को नाम एवं गोत्र का उच्चारण करके नमस्कार करना चाहिये; जैसे 'अभिवादयेऽहं काश्यपगोत्रः वागीशशर्माहं भोः!' प्रत्यभिवादन में अभिवादनकर्ता के नाम का अन्तिम स्वर (टि) प्लुत करके बोलना चाहिये, जैसे—आयुष्मान् भव वागीश ३ । किन्तु स्त्रियों के लिये अभिवादन में नामादि का उच्चारण नहीं करना चाहिये। केवल 'अयम् अहम् अभिवादये' यही कहना चाहिये। ठीक इसी प्रकार उन्हें भी अभिवादन करना चाहिये जो प्रत्यभिवादन में टि (अन्तिमस्वर) का प्लुत करना नहीं जानते हैं। इस विषय में पाणिनि का यह सूत्र है "प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (पासू ८।२।२३)। यह प्लुतज्ञान व्याकरणाध्ययन से ही सम्भव है। अज्ञानी व्यक्ति स्त्रियों के समान अभिवादनीय होता है।

२. अग्न्याधान के पश्चात् किसी आधाता का महान् संकट उपस्थित होने पर यदि कर्म का विच्छेद हो जाता है तो पुनराधेय इष्टि की जाती है। इसी

-चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम्। विभक्ति कुर्वन्ति।

(७) यो वा इमाम्—

"यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशो वाचं विदधाति स आर्त्विजीनो भवति।" आर्त्विजीनाः स्यामेत्येध्यं व्याकरणम्। यो वा इमाम्।

(अध्ययन के) विना प्रयाज (मन्त्र) विभक्तिविशिष्ट नहीं किये जा सकते हैं। विभक्त्यन्त करें।

(७) जो कोई इस (वाणी) को—

जो (कोई) प्रत्येक पद, (उदात्तादि) स्वर तथा (अकारादि) अक्षर के रूप में इस (वेदरूप वाणी) का संस्कार करता है (ठीक-ठीक उच्चारण करता है), वह आर्त्विजीन[1] (यजमान और याजक) होता है। (हम लोग) आर्त्विजीन बनें, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

विषय में यह विधि है "प्रयाजाः सविभक्तिकाः कार्याः" यहाँ प्रयाज का तात्पर्य प्रयाज याग के उपयोगी मन्त्र हैं। उन मन्त्रों को विभक्तिविशिष्ट करना है। प्रकृतियाग में प्रयाजमन्त्र सविभक्तिक ही पठित हैं। इस लिये ऊह्यमान जो अग्निशब्दरूप प्रकृति, उसकी विभक्तियों से युक्त करना चाहिये। केवल विभक्ति का प्रयोग नहीं होता है। अतः इससे उसकी प्रकृति का आक्षेप किया जाता है। निरुक्त में यह विवेचन है "अथ किंदेवताः प्रयाजानुयाजाः ?" उत्तर है "आग्नेया इति तु स्थितिः" (निरु० ८।२२।८)। अतः इसमें अग्नि को प्रकृति माना जाता है। इस अग्नि शब्द के साथ प्रथमा (सम्बुद्धि), द्वितीया, तृतीया एवं सप्तमी— इन चार विभक्तियों से युक्त एक और अग्नि शब्द पढ़ा जाता है। पञ्चम अग्नि शब्द विभक्तिसहित नहीं रहता है। उदाहरणार्थ—"समिधः समिधोऽग्न आज्यस्य व्यन्तु (व्येतु)" इसमें 'अग्ने' के बाद उक्त चार विभक्तियों से युक्त एक अग्नि शब्द और पढ़ा जाता है। इस सम्बन्ध में आपस्तम्ब ने यह लिखा है—

"अग्नेऽग्नेऽग्नावग्नेऽग्निनाऽग्नेमग्निमग्न इति चतुर्षु प्रयाजेषु चतस्रो विभक्तीर्ददाति नोत्तमे।"

इन विभक्तियों के रूपों का ज्ञान व्याकरणाध्ययन से ही सम्भव हैं। द्र० महाभाष्य की दाधिमथ टिप्पणी।

१. ऋत्विजमर्हति इस अर्थ में ऋत्विक् शब्द से "यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ" (पा० सू० ५।१।७१) से खञ् (ईन) प्रत्यय होने पर निष्पन्न आर्त्विजीन का अर्थ—यजमान है। और "यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोपसंख्यानम्" इस वार्तिक से ऋत्विक् कर्म के योग्य अर्थात् याजक अर्थ में भी खञ् (ईन) होता है। अतः यहाँ दोनों अर्थ विवक्षित हैं।

(८) चत्वारि—

"चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।

त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश ॥इति॥

चत्वारि शृङ्गाणि—पदजातानि = नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च। त्रयो अस्य पादाः—त्रयः कालाः = भूतभविष्यद्—वर्तमानाः। द्वे शीर्षे—द्वौ शब्दात्मानौ = नित्यः कार्यश्च। सप्त हस्तासो अस्य—सप्त विभक्तयः। त्रिधा बद्धः-त्रिषु स्थानेषु बद्धः-उरसि कण्ठे शिरसीति। वृषभो वर्षणात्। रोरवीते=शब्दं करोति।

कुत एतत् ?

रौतिः शब्दकर्मा।

महो देवो मर्त्याँ आविवेशेति। महान् देवः = शब्दः। मर्त्याः = मरणधर्माणो मनुष्याः, तानाविवेश[1]। महता देवेन नः साम्यं[2] यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम्।

---

(८) चार—

इस (शब्दवृषभ) के चार सींग, तीन पैर, दो सिर (और) सात हाथ हैं। तीन स्थानों पर बन्धा हुआ (यह) वृषभ शब्द करता है। महान् देव (शब्द ब्रह्म) मनुष्यों में आविष्ट है।

चार सींग—पदरूप (परा पश्यन्ती मध्यमावैखरीरूप) और नाम, आख्यात, उपसर्ग तथा निपात हैं। इसके तीन पैर—तीन काल = भूत भविष्यद् वर्तमान हैं। दो सिर—दो प्रकार के शब्द नित्य (स्फोट) और कार्य (अनित्यध्वनि) हैं। इसके सात हाथ—(प्रथमादि) सात विभक्तियाँ हैं। तीन प्रकार से बँधा हुआ—तीन स्थानों में बंधा हुआ—वक्षस्थल, कण्ठ और सिर में। (स्वर्गमोक्षादि कामों की) वर्षा से वृषभ (कहा जाता) है। रोरवीति = शब्द करता है।

यह कैसे (ज्ञात होता है) ?

रु धातु शब्दकर्मक है। (रु धातु का अर्थ है—शब्द करना)

महान् (परब्रह्मस्वरूप) देव (अन्तर्यामिरूप) मनुष्यों में आविष्ट है।

---

१. भाष्य में नाम=सुबन्त और आख्यात=तिङन्त हैं। उपसर्ग और निपात का अलग-अलग उल्लेख केवल स्पष्टतार्थ है। दो प्रकार के शब्दों का तात्पर्य यह है कि एक वैखरी ध्वनिरूप व्यंजक शब्द है। यह कार्य=अनित्य है। दूसरा इससे व्यङ्ग्य नित्य=स्फोटरूप है।

२. वाक्यपदीय में सायुज्यप्राप्ति का उल्लेख है—

अपि प्रयोक्तुरात्मानं शब्दमन्तरवस्थितम्।

प्राहुर्महान्तमृषभं येन सायुज्यमिष्यते॥ वाक्यपदीय १।१३०

अपर आह—

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ॥

'चत्वारि वाक्परिमिता पदानि'-चत्वारि पदजातानि-नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च[1] । 'तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः ।' मनस ईषिण :—मनीषिणः । 'गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति'—गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति=न चेष्टन्ते, न निमिषन्तीत्यर्थः । 'तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति ।' तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते । चतुर्थमित्यर्थः । चत्वारि ।

९. उतत्वः

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुतत्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् ।
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्ये उशती सुवासाः ॥

महान्देव=शब्द । मर्त्या=मरणस्वभाववाले मनुष्य, उनमें आविष्ट है । (उस) महान् देव (शब्दब्रह्म) के साथ हमलोगों का साम्य=सायुज्य (ऐक्य) जिस प्रकार हो जाय, इसके लिए व्याकरण का अध्ययन करना चाहिए ।

(चत्वारि—इस प्रतीक से अन्य मन्त्र का भी ग्रहण किया जाता हे । अतः) दूसरा कहता है—

वाणी के चार ही पद हैं । इन्हें मन को वश में रखने वाले ब्राह्मण ही जानते हैं । तीन (पद) गुहा में छिपे हुये चेष्टा नहीं करते हैं । वाणी के चतुर्थ पद को (साधारण, अवैयाकरण) मनुष्य बोलते हैं ।

वाणी के चार ही पद हैं—नाम (सुबन्त), आख्यात (तिङन्त) उपसर्ग और निपात । जो मनीषी ब्राह्मण हैं (वे) इन्हें (चार पदों को) जानते हैं । मन के ईषी=अधिकारी (मन को वश में रखने वाले) । (अज्ञानरूपी) गुफा में छिपे हुये (अज्ञात) तीन पद ईङ्गित=चेष्टा नहीं करते हैं, निमेषित नहीं होते हैं (ज्ञान के विषय नहीं होते हैं) । वाणी के चतुर्थ अंश को (साधारण) मनुष्य बोलते हैं । यह वाणी का चौथा (अंश) है जो मनुष्यों में विद्यमान है ।

(तुरीय=) चतुर्थ यह अर्थ है । चार ।

(९) दूसरा भी—

अन्य (एक) वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता है और अन्य (एक)

---

१. इसमें और इससे पूर्व के मन्त्र के व्याख्यान में—"नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च" इस 'च' का प्रयोग है । नागेश ने इसके आधार पर परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी—इनका भी ग्रहण किया है अन्यथा 'च' के अर्थ समुच्चय

अपि खल्वेकः पश्यन्न पश्यति, अपि खल्वेकः शृण्वन्न शृणोत्ये-नामिति—अविद्वांसमाहार्धम् ।

उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे=तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती सुवासाः । तद्यथा—जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते । एवं वाक् वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते । वाङ्नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम् । उत त्वः ।

(१०) सक्तुमिव—

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत ।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधि वाचि ।।

इसे सुनता हुआ भी नहीं सुनता है । सुन्दर (उज्ज्वल) वस्त्र धारण करनेवाली पति-अभिलाषिणी पत्नी के समान (यह वाणी) इस (वैयाकरण) के लिये अपने शरीर को खोल देती है ।

एक (अवैयाकरण) (इस वाणी को) देखता हुआ[1] भी नहीं देखता है । एक (अवैयाकरण) सुनता हुआ भी नहीं सुनता[2] है । इस प्रकार आधा पद्य अविद्वान् (की निन्दा) को कहता है ।

इस (वैयाकरण) के लिये (यह वाणी) शरीर (अर्थरूप) का विसरण= अनावरण=प्रकाश कर देती है । पति (के संगम) की अभिलाषिणी, सुन्दर (स्वच्छ) वस्त्र धारण करनेवाली पत्नी के समान । जैसे—पति (के संगम) की अभिलाषिणी, स्वच्छ वस्त्र धारण करनेवाली पत्नी अपने (शरीर) को खोल देती हैं (अपना शरीर वस्त्ररहित, आवरणरहित कर देती हैं । इसी प्रकार वाणी वाग्विद्=वैयाकरण के लिये अपने (वास्तविक स्वरूप) को प्रकट कर देती हैं । वाणी हम लोगों के लिये अपने स्वरूप को प्रकट कर दे, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये ।

(१०) सत्तुओं के समान—

जिस (व्याकरण) में ध्यान लगाने वाले (वैयाकरण) चलनी के द्वारा

की संगति नहीं हो सकती । वाणी के इन चार भेदो में तीन को साधारण मनुष्य नहीं समझ पाते हैं । वे वैखरीरूप चतुर्थ अंश का ही ज्ञान रखते हैं और प्रयोग करते हैं । नामादि चार भेदों को भी नहीं जानते हैं सभी को एक ही रूप समझते हैं । अतः उनके तीन भेद अज्ञानान्धकार में छिपे रहते हैं ।

१. प्रत्यक्षतः शब्दस्वरूप का ज्ञान करता हुआ भी, अर्थज्ञान न करने के कारण नहीं देख पाता है । क्योंकि अर्थज्ञान ही वाणी का फल है ।

२. अर्थ का सम्यक् ज्ञान करनेवाले का ही सुनना वास्तव में सुनना है । अर्थपरिज्ञान के अभाव में सुनना न सुनना के समान है ।

सक्तुः—सचतेर्दुर्धावो भवति, कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो भवति। तितउ—परिपवनं भवति, ततवद्वा, तुन्नवद्वा। धीराः=ध्यानवन्तः, मनसा=प्रज्ञानेन, वाचमक्रत=अकृषत[1]।

'अत्रा सखायः सख्यानि जानते'=अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते=सायुज्यानि जानते[2]।

क्व ?

सत्तुओं के समान (ध्यानयुक्त) मन के द्वारा वाणी को करते हैं। (असाधु शब्दों को पृथक् करते हैं)। इस (ब्रह्मप्रतिपादक शब्द के विषय) में समान ज्ञानवाले (होते हुये) सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं। क्योंकि इनको वाणी में भद्र लक्ष्मी अधिक रहती है।

सक्तु—सच्[3] (षच्) धातु से (निष्पन्न है, अतः इसका अर्थ है) दुर्धाव=कष्ट से धोने योग्य। अथवा वर्णव्यत्यय किये गये कस् धातु से (निष्पन्न सक्तु का अर्थ) विकसित—होता है। तितउ[4]=परिपवन=चालनी है, (यह चालनी) ततवद्=बहुत विस्तारयक्त अथवा छिद्रयुक्त (होती है)। धीर=ध्यान लगाने वाले, मन के द्वारा=प्रकृष्ट ज्ञान के द्वारा वाणी को (शुद्ध) करते हैं (किया)। यहाँ समानज्ञानवाले सख्य प्राप्त करते है—इस (ब्रह्मप्रति-पादक शब्द के विषय) में सखा=समानज्ञानवाले होते हुये सख्य=सायुज्य जानते=प्राप्त करते हैं।

कहाँ (सायुज्य प्राप्त करते हैं) ?

---

१. शब्दसमुदाय से शुद्ध शब्दों को ज्ञानरूपी चलनी द्वारा पृथक् कर लेते हैं।

२. ब्रह्मप्रतिपादक शब्द एवं ब्रह्म में अभेद का ज्ञान करते हुये उसी रीति से पदार्थमात्र में ब्रह्म का अभेद ज्ञान कर लेते है। अतः ब्रह्म के सायुज्य=ऐक्य के अधिकारी हो जाते हैं।

३. सच्+तुन्=सक्तु। इस का अर्थ है—दुःशोध। दाल या चावल के समान सत्तुओं को पानी से धोया नहीं जा सकता। कस् व्यञ्जनव्यत्यय करने पर सक्+तुन्=सक्तु। इसका अर्थ है विकसित होने वाला। सत्तुओं में पानी डालने पर वे बढ़ते रहते हैं।

४. तन् धातु से 'तनोतेर्डउः सन्वच्च' से डउ (अउ) प्रत्यय सन्वद्भाव होने से द्वित्व, अभ्यास के अकार का इकार और टिलोप होकर तितउ शब्द निष्पन्न होता है। इसका अर्थ है—विस्तारयुक्त।

अथवा तुद धातु से 'कर्मणि डउः सन्वच्च' से डउ (अउ) प्रत्यय और सन्वद्भाव, द्वित्व, अकार का इकार टिलोप करने पर तितउ शब्द निष्पन्न होता है।

य एष दुर्गो मार्गः, एकगम्यो वाग्विषयः।
के पुनस्ते ?
वैयाकरणाः।
कुत एतत् ?
'भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि।'
एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणाद् भासनात् परिवृढा भवति। सक्तुमिव।
(११) सारस्वतीम्—
याज्ञिकाः पठन्ति—"आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्" इति। प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। सारस्वतीम्।
(१२) दशम्यां पुत्रस्य—
याज्ञिकाः पठन्ति—"दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्यात्

जो यह दुर्ग (कष्ट से प्राप्त होने वाला) मार्ग, एक (-मात्र) (ज्ञान) से प्राप्य, (वेदरूप) वाणी का विषय है। (उस आत्मा के साथ सायुज्य प्राप्त करते हैं।)

वे कौन हैं ?

(वे) वैयाकरण (हैं)।

यह कैसे ?

क्योंकि इन (शब्दतत्त्ववेत्ता वैयाकरणों) की वाणी में कल्याणकारिणी लक्ष्मी स्थित रहती है। लक्षण = भासन = प्रकाशित होने के कारण परिवृढ = अज्ञान दूर करने में समर्थ (होती है। अतः इसे) लक्ष्मी (कहा जाता) है। सत्तुओं के समान।

(११) सरस्वती-सम्बन्धी—

यज्ञानुष्ठाता वैदिक (यह) पढ़ते हैं—'अग्न्याधान करने वाला व्यक्ति अपशब्द का प्रयोग करके (इसके) प्रायश्चित्त के लिये सरस्वती-सम्बन्धी इष्टि=याग करे। (अपशब्दोच्चारण करके) हम प्रायश्चित्त के दोषी न हो जायँ, इसलिये व्याकरण का अध्ययन करना चाहिये।

(१२) दशवीं (रात्रि के बाद) में पुत्र का—

यज्ञानुष्ठाता (यह) पढ़ते हैं—"(पुत्रजन्म से) दशवीं (रात्रि) के बाद (अर्थात् ग्यारहवें दिन) जात पुत्र का नामकरण करे—आदि में घोष वर्णों वाला, मध्य में अन्तःस्थवर्णों (यवरल) वाला, (अन्त में) अवृद्ध (वृद्ध स्वरों

घोषवदाद्यन्तरन्तस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरिप्रतिष्ठितम् तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम्।" इति।

न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। दशम्यां पुत्रस्य।

(१३) सुदेवो असि वरुण—

सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः।
अनु क्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव॥

'सुदेवो असि वरुण'=सत्यदेवोऽसि, 'यस्य ते सप्त सिन्धवः'—सप्त विभक्तयः, 'अनुक्षरन्ति काकुदम्'। काकुदं तालु। काकुः=जिह्वा, साऽस्मिन्नुद्यते इति काकुदम्। 'सूर्म्यं सुषिरामिव।' तद्यथा—शोभनामूर्मिं सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति, एवं ते सप्त सिन्धवः=सप्तविभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः।

से रहित), (नामकर्ता पिता के पूर्वज) तीन पुरुषों का स्मारक, (और) शत्रुओं में अप्रतिष्ठित (अथवा अनरि=नर-भिन्न पशु पक्षी में प्रतिष्ठित न होने वाला)। क्योंकि ऐसा ही नाम अत्यन्त प्रतिष्ठित होता है। नाम दो या चार अक्षरोंवाला (हो और) कृदन्त रखे तद्धितान्त नहीं।"

व्याकरण के विना कृत् अथवा तद्धित (प्रत्ययों) का ज्ञान नहीं किया जा सकता। (अत: व्याकरणाध्ययन आवश्यक है)।

(१३) हे वरुण ! तुम सुदेव हो—

हे वरुण ! तुम सुदेव हो। क्योंकि तुम्हारी (गले से निकलती हुई) सात नदियाँ, सुषिरा=छिद्रयुक्त सूर्मि=लौहप्रतिमा (में अग्नि) के समान तालु में प्रकाशित होती है।[1]

हे वरुण ! तुम सुदेव हो=सत्यदेव हो (सत्य के कारण दीप्तिमान् हो) क्योंकि तुम्हारी सात सिन्धु=(प्रथमादि) सात विभक्तियाँ काकुद=तालु में अनुक्षरण=प्रकाश करती हैं। काकुद=तालु। काकु=जिह्वा इसमें नोदित=प्रेरित की जाती है। इस लिये काकुद कहते हैं। 'छिद्रयुक्त लौह प्रतिमा के समान।' जिस प्रकार छिद्रयुक्त सुन्दर लौहप्रतिमा के मध्य में प्रविष्ट होकर अग्नि (उसके दूषणों को) जला देती है, इसी प्रकार आपकी सात सिन्धु=सात विभक्तियाँ तालु में प्रकाशित रहतीं हैं। इसी से तुम सत्यदेव (सत्यभाषण से

---

१. जिस प्रकार भीतर छिद्रवाली लौहप्रतिमा आग में तपायी जाने पर शुद्ध हो जाती है उसके दोष जलकर भस्म हो जाते हैं। इसी प्रकार वरुण की जिह्वा पर सात विभक्तियों के सभी रूप रहते हैं। इसलिये वे सदैव शुद्ध ही बोलते हैं। पवित्र रहते हैं।

सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् । सुदेवो असि ।

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते, न पुनरन्यदपि किञ्चित्—'ॐ' इत्युक्त्वा वृत्तान्तशः 'शम्' इत्येवमादीन् शब्दान् पठन्ति ?

पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते, तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणनादानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते । अद्यत्वे न तथा । वेदमधीत्य त्वरिता वक्तारो भवन्ति ।

'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धाः,'

'लोकाच्च लौकिकाः,'

'अनर्थकं व्याकरणम्' इति । तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्य आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे—इमानि प्रयोजनानि अध्येयं व्याकरणम् इति ।

दीप्तिमान्) हो । (हम लोग भी) सत्यदेव हों, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । हे वरुण ! तुम सुदेव हो ।

व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों की उपपत्ति

यह क्या कारण हैं कि केवल व्याकरणाध्ययन के इच्छुक व्यक्तियों के लिये ही प्रयोजन बताये जा रहे हैं और कुछ (वेदादि पढ़ने वालों को कोई भी प्रयोजन) नहीं (बताया जाता है), (गुरु के द्वारा 'पढ़ो' ऐसा कहा जाने पर) 'ओम् (हाँ)' यह कह कर प्रपाठक प्रपाठक करके 'शम्' आदि शब्दों को पढ़ने लगते हैं ?

प्राचीन काल में ऐसा था—(उपनयनादि) संस्कार के बाद ब्राह्मण व्याकरण पढ़ते थे । उन-उन (वर्णों के उच्चारण) स्थान, करण (आभ्यन्तर प्रयत्न), नाद (आदि ग्यारह) अनुप्रदानों (बाह्य प्रयत्नों) को जानने वाले उन (संस्कारयुक्त ब्राह्मणों) के लिये वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था । किन्तु आजकल (पतञ्जलि के समय में) ऐसा नहीं है । वेद पढ़कर (विवाहादि में) शीघ्रतापूर्वक बोलने वाले बन जाते हैं ।

'वेद (-ज्ञान) से हम लोगों के लिये वैदिक शब्द सिद्ध हैं'

'लोक (-व्यवहार) से लौकिक'

'(अतः) व्याकरण अनर्थक है' (व्याकरणाध्ययन का कोई प्रयोजन नहीं है)—इस प्रकार की विपरीत बुद्धि रखने वाले अध्येताओं से आचार्य इस (प्रयोजनप्रतिपादक ग्रन्थ) का अन्वाख्यान कर रहे हैं—ये (५ + १३) प्रयोजन हैं (अतः) व्याकरणाध्ययन करना चाहिये ।

उक्तः शब्दः। स्वरूपमप्युक्तम्। प्रयोजनान्यप्युक्तानि।

●

शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम्। किं शब्दोपदेशः कर्तव्यः, आहोस्विदपशब्दोपदेशः, आहोस्विदुभयोपदेश इति ?

अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात्। तद्यथा—भक्ष्यनियमेनाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते। 'पञ्च पञ्चनखा[1] भक्ष्या' इत्युक्ते गम्यत एतत्—अतोऽन्येऽभक्ष्या इति।

अभक्ष्यप्रतिषेधेन च भक्ष्यनियमः। तद्यथा—'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकरः' इत्युक्ते गम्यत—एतत् आरण्यो भक्ष्य इति।

एवमिहापि।

अनुबन्ध[2]-चतुष्टय का उपसंहार

(अनुशासन का विषयभूत लौकिक एवं वैदिक) शब्द कह दिया। (अथ गौरित्यत्र कः शब्द ? के द्वारा उस शब्द का) स्वरूप (स्फोट एवं ध्वनि) भी कह दिया। (मुख्य ५ और आनुषङ्गिक १३) प्रयोजन भी कह दिये।

●

शब्दानुशासनरीति का विवेचन

अब शब्दों का अनुशासन करना है। (इसके तीन रूप हो सकते हैं—) १—क्या (केवल शुद्ध) शब्दों का उपदेश करना चाहिये, २—अथवा (केवल) अपशब्दों का, ३—अथवा (शब्द और अपशब्द) दोनों का ?

किसी भी एक के उपदेश से काम चल सकता है। जैसे-भक्ष्य (पदार्थों) का नियम कर देने से अभक्ष्य (नहीं खाने योग्य) का प्रतिषेध प्रतीत हो जाता है। उदाहरणार्थ—'पाँचनाखूनवाले पाँच ही प्राणी भक्ष्य (खाने योग्य) हैं' यह कहा जाने पर यह (स्वतः) प्रतीत हो जाता है कि—इन (पाँचनाखून वालों) से भिन्न (प्राणी) भक्ष्य नहीं हैं।

और अभक्ष्य के प्रतिषेध से भक्ष्य का नियम (स्वतः सिद्ध है।) उदाहरणार्थ—गाँववाला मुर्गा अभक्ष्य है, गाँववाला सुअर अभक्ष्य है। ऐसा कहने पर यह (स्वतः) प्रतीत हो जाता है कि—जंगलवाला (मुर्गा और सुअर) भक्ष्य है।

इसी प्रकार यहाँ (शब्दोपदेश में) भी (समझना चाहिये)।

---

१. पञ्च पञ्चनखाः भक्ष्या ब्रह्मक्षत्रेण राघव।
शशकः शल्यकी गोधा खड्गी कूर्मोऽथ पञ्चमः॥ बालमीकि राम० कि० कां०

२. अनुबन्ध-चतुष्टय का उपपादन (१) इस ग्रन्थ का विषय है—शब्द का अनुशासन। (२) मुख्य और गौण १८ प्रयोजन हैं। (३) प्रतिपाद्यप्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। (४) उपनयनादिसंस्कारयुक्त और व्याकरणाध्ययन का जिज्ञासु व्यक्ति—अधिकारी है।

यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतत्—गाव्यादयोऽपशब्दा इति।

अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियेत, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतत्—गौरित्येष शब्द इति।

किं पुनरत्र ज्यायः?

लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। लघीयाञ्छब्दोपदेशः। गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा—गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका—इत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति।

अथैतस्मिन् शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः—गौः, अश्वः, शकुनिः, मृगो, ब्राह्मण—इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः?

नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि

यदि (केवल शुद्ध) शब्दों का उपदेश किया जाता है, (तो) 'गौः' इसका उपदेश किया जाने पर यह (स्वतः) प्रतीत हो जाता है कि—गावी आदि अपशब्द हैं।

और यदि (केवल) अपशब्दों का उपदेश किया जाता है तो 'गावी' आदि का उपदेश करने पर यह (स्वतः) प्रतीत हो जाता है—गौः यह (शुद्ध) शब्द है।

यहाँ (दोनों के उपदेश में) क्या (=किसका उपदेश) अधिक अच्छा है?

लघु होने से (शुद्ध) शब्दों का ही उपदेश (करना ठीक है)। (अपशब्दों की तुलना में) शब्दों का उपदेश लघुतर है। (और) अपशब्दों का उपदेश गुरुतर है। (क्योंकि) एक-एक (शुद्ध) शब्द के बहुत अपभ्रंश होते हैं। उदाहरणार्थ—'गौः' इस (एक शुद्ध शब्द) के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका—आदि इसी प्रकार अनेक अपभ्रंश (शब्द) हैं।

(शुद्ध शब्दों के उपदेश में लाघव के साथ-साथ) इष्ट (की प्राप्ति के जनक शब्दों) का अन्वाख्यान=प्रतिपादन भी होता है।

अब (शुद्ध) शब्दों का उपदेश (करना है यह व्यवस्थित) हो जाने पर क्या शब्दों की प्रतिपत्ति (ज्ञान) में (उपायभूत) प्रतिपदपाठ (प्रत्येक पद का पृथक्-२ पाठ) करना चाहिये—गौः, अश्वः, शकुनिः (पक्षी), मृगः, ब्राह्मणः—आदि इसी प्रकार शब्द पढ़ने चाहिये?

(वैयाकरण) नहीं—ऐसा कहता है। शब्दों के ज्ञान में (उपायभूत) प्रतिपदपाठ अच्छा उपाय नहीं है। क्योंकि (आख्यानों में) ऐसा सुना जाता

श्रूयते—"बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच नान्तं जगाम।"

बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालः, न चान्तं जगाम।

किं पुनरद्यत्वे ? यः सर्वथा चिरं जीवति—वर्षशतं जीवति।

चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन, स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः ?

किञ्चित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान् प्रतिपद्येरन्।

किं पुनस्तत् ?

उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः।

है—"बृहस्पति ने एक हजार देववर्षों तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्दों का शब्दपारायण (ग्रन्थ) पढ़ाया किन्तु अन्त (समाप्ति) नहीं पासके।"

बृहस्पति (देवगुरु) पढ़ानेवाले, इन्द्र (देवराज) पढ़नेवाले, एक हजार देववर्ष अध्ययन का काल, और अन्त नहीं प्राप्त किया (अध्ययन पूरा नहीं कर सके)।

फिर आजकल क्या (कोई अन्त प्राप्त कर सकेगा) ? जो अत्यन्त चिर काल जीवित रहता है—सौ वर्ष (ही) जीवित रहता है।

और चार प्रकारों से विद्या उपयुक्त (फलवती) होती है—(१) आगमकाल (गुरु से पढ़ते समय), (२) स्वाध्यायकाल (अधीत विषय का अभ्यास करते समय), (३) प्रवचनकाल (विद्यार्थियों को पढ़ाते समय) और (४) व्यवहारकाल (यज्ञादि कर्मों में अपना ज्ञान प्रदर्शित करते समय)। (इन चार कालों में ही विद्या सफल मानी जाती है।) इस (प्रतिपदपाठ) में (तो गुरु से) ग्रहणकाल में ही इस (अध्येता) की (सम्पूर्ण) आयु समाप्त हो जायेगी। (एक ही काल प्राप्त होगा तीन शेष ही रह जायेंगे।) अतः शब्दों के ज्ञान में प्रतिपदपाठ अच्छा उपाय नहीं है।

तो इन शब्दों का ज्ञान कैसे करना चाहिये ?

कुछ सामान्य और विशेष (नियमों) वाला शास्त्र बनाना चाहिये। जिससे अल्प प्रयास द्वारा बड़े-बड़े शब्द समुदायों का ज्ञान (लोग) कर सकें।

वह (सामान्य-विशेष-नियम-वाला शास्त्र) क्या है ?

उत्सर्ग और अपवाद। कोई उत्सर्ग बनाना चाहिये, कोई अपवाद।

कथञ्जातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः, कथञ्जातीयकोऽपवादः ?

सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा—"कर्मण्यण्" (पा० सू० ३।२।१)।

तस्य विशेषेणापवादः[1]। तद्यथा–"आतोऽनुपसर्गे कः" (पासू० ३।२।३)

—०—

किं पुनराकृतिः पदार्थः, आहोस्विद् द्रव्यम् ?

उभयमित्याह।

कथं ज्ञायते ?

उभयथा[2] ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा—"जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्" (पा० सू० १।२।५८) इत्युच्यते।

तो फिर उत्सर्ग किस प्रकार का बनाना चाहिये, और अपवाद किस प्रकार का ?

सामान्यरूप से उत्सर्ग (शास्त्र) बनाना चाहिये। जैसे "कर्मकारकमात्र उपपद रहने पर धातुमात्र से अण् होता है।"

इस (सामान्य कथन) का विशेष (कथन = शास्त्र) द्वारा अपवाद (बनाना चाहिये)। जैसे—'कर्म कारक उपपद रहने पर उपसर्गरहित आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय होता है।'

●

जाति एवं व्यक्ति के पदार्थत्व का निर्णय

तो फिर पद का (वाच्य) अर्थ आकृति = जाति है अथवा द्रव्य = व्यक्ति ?

(जाति एवं व्यक्ति) दोनों अर्थ हैं—ऐसा (वैयाकरण) कहता है।

कैसे ज्ञात होता है (कि दोनों अर्थ होते हैं) ?

क्योंकि आचार्य (पाणिनि) ने दोनों प्रकार के सूत्र पढ़े हैं। जाति को

---

१. पहले कुछ सामान्य शास्त्र (सूत्र) बनाने के बाद लक्ष्यानुसार इनके अपवाद शास्त्र (सूत्र) बनाने चाहिये। जैसे—"कर्मण्यण्" (पा० सू० ३।२।१) सर्वत्र अण् का विधान करता है। "आतोऽनुपसर्गे कः" (पा० सू० ३।२।३) इसका अपवाद है। यह उपसर्गरहित, आकारान्त धातु से 'अण्' रोक कर 'क' का विधान करता है। अण् होने पर कुम्भकारः आदि और 'क' होने पर गोदः धनदः आदि दो प्रकार के रूप होते हैं। यही रीति सर्वत्र अपनानी चाहिये।

२. पद का अर्थ विवादग्रस्त है। इसीलिये भाष्यकार वैयाकरणों का मत प्रस्तुत करते हैं। मीमांसक जाति अर्थ के समर्थक हैं और नैयायिक जात्यादि-विशिष्ट व्यक्ति के। वैयाकरण लक्ष्यानुसार दोनों को अर्थ मानते हैं। यह विचार पाणिनि के सूत्रों से ही स्पष्ट है।

द्रव्यं पदार्थं मत्वा "सरूपाणाम्" (पा० सू० १।२।६४) इत्येकशेष आरभ्यते।

—०—

किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित् कार्यः ?[1]

पदार्थ मान कर—"जाति के कथन में एक में विकल्प से बहुवचन होता है" यह कहा है।

व्यक्ति को पदार्थ मानकर "सरूप शब्दों का एकशेष रहता है।" यह कहा है।

●

शब्द का नित्यत्व एवम् अनित्यत्व

क्या शब्द नित्य है, अथवा अनित्य (कार्य=जन्य) ?

यदि सर्वत्र केवल व्यक्ति ही पदार्थ माना जाता तो 'सम्पन्नाः व्रीहयः' आदि में व्यक्ति बहुत होने से बहुवचन स्वतः सिद्ध था। अतः "जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' (पा० सू० १।२।५८) (जातिवाचक शब्दों में एक में भी विकल्प से बहुवचन होता है—इत्यर्थक) सूत्र द्वारा वैकल्पिक बहुवचन विधान व्यर्थ प्रतीत होता है। अतः इसी से यह सिद्ध हो जाता है कि पद का अर्थ जाति है। यह जाति एक होती है। अतः एकवचन ही होगा, बहुवचन नहीं। इस बहुवचन की उत्पत्ति के लिये प्रस्तुत सूत्र बनाया गया है।

यदि सर्वत्र केवल जाति ही पदार्थ माना जाता तो जाति के एक होने से उसे कहने के लिये एक ही शब्द की आवश्यकता है, एक शब्द का ही प्रयोग प्राप्त है, अनेक का नहीं। इस स्थिति में "सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ" (पा० सू० १।२।६४) (एक विभक्ति में सरूप शब्दों का एक ही शेष रहता है—इत्यर्थक) सूत्र की आवश्यकता नहीं है। इससे यही सिद्ध होता है कि पाणिनि व्यक्ति अर्थ के भी समर्थक हैं। व्यक्ति बहुत होते हैं। उनके लिये अनेक शब्दों का प्रयोग प्राप्त होता है। उसके स्थान पर एक के प्रयोग के लिये प्रस्तुत सूत्र है।

जहाँ जाति में कार्य बाधित है, सम्भव नहीं है, वहाँ जातिविशिष्ट व्यक्ति में किया जाता है। इस प्रकार सर्वत्र निर्वाह हो जाता है।

१. प्रारम्भ में शब्द के दो रूप प्रस्तुत किये गये हैं—(१) स्फोट और (२) ध्वनि। स्फोट नित्य है और ध्वनि अनित्य। व्याकरण-शास्त्र की उपयोगिता किस पक्ष में है, इसीलिये यहाँ विचार है।

नैयायिकादिमतानुसार ध्वनि ही शब्द है। यह अनित्य है। मीमांसक शब्द को नित्य मानते हुये भी स्फोट के अस्तित्व का खण्डन करते हैं। वैयाकरण वैखरी ध्वनि से व्यंग्य स्फोट को शब्द सिद्ध करते हैं। यह नित्य विभु और अखण्ड है।

संग्रह[1] एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति। तत्रोक्ता: दोषा:, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णय:—यद्येव नित्य:, अथापि कार्य:, उभयथापि लक्षणं[2] प्रवर्त्यमिति।

—०—

कथं[3] पुनरिदं भगवत: पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्?

सिद्धे शब्दार्थ-सम्बन्धे। (का० वा० १ प्रथमखण्डम्)

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।[4]

(आचार्य व्याडिरचित एक लाख श्लोकवाले) संग्रह (नामक ग्रन्थ) में इस (विषय) की प्रधानरूप से परीक्षा (विवेचना) की गयी हैं—शब्द नित्य हो अथवा अनित्य। उन (दोनों पक्षों) में दोष कहे गये हैं और प्रयोजन भी कहे गये हैं। वहीं (संग्रह ग्रन्थ में) यह निर्णय किया गया है—यद्यपि नित्य है। तथापि कार्य=अनित्य है, दोनों पक्षों में लक्षण (व्याकरण-शास्त्र) की प्रवृत्ति होनी चाहिये।

●

शब्द अर्थ एवं सम्बन्ध का नित्यत्व—पाणिनि का मत

तो आचार्य भगवान् पाणिनि का लक्षण (व्याकरण शास्त्र) कैसे बना? (पाणिनि ने नित्य या अनित्य क्या पक्ष मान कर अष्टाध्यायी के सूत्र बनाये?)

(वा.) शब्द, अर्थ और (दोनों का) सम्बन्ध सिद्ध (नित्य) रहने पर।

(शब्द अर्थ और दोनों का सम्बन्ध सिद्ध रहने पर (तीनों को नित्य मान कर आचार्य पाणिनि ने अपना व्याकरण शास्त्र बनाया)।

अच्छा, सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है?

---

१. संग्रह ग्रन्थ इस समय सर्वथा अनुपलब्ध है! यत्र तत्र कुछ श्लोक इसके नाम से उद्धृत प्राप्त होते हैं।

२. "इको यणचि" (पा. सू. ६।१।७७) आदि सूत्रों का प्रधान कार्य साधुत्वबोध करवाना है। इसकी आवश्यकता नित्य एवम् अनित्य दोनों पक्षों में है। अत: व्याकरण शास्त्र व्यर्थ नहीं है।

३. ऊपर नित्यत्व एवम् अनित्यत्व दोनों पक्षों में व्याकरण की उपयोगिता सिद्ध की गई है क्योंकि व्याकरण का प्रमुख कार्य साधुत्वबोधन है। प्रस्तुत स्थल में यह विवेचन किया जा रहा है कि इन दोनों पक्षों में पणिनि किस पक्ष के समर्थक हैं। यदि वे अनित्यता के समर्थक हैं तो वे नवीन शब्दों के स्रष्टा हैं। और यदि नित्यता के समर्थक हैं तो पूर्वत: विद्यमान ही शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध का स्मरणमात्र करवाते हैं? उत्तर यह है कि ये तीनों पहले से सिद्ध हैं, पाणिनि केवल स्मर्ता हैं, स्रष्टा नहीं।

४. वैयाकरणमतानुसार शब्द नित्य ही है। नैयायिकों आदि को भी प्रवाह-

अथ[1] सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः ?

नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः ।

कथं ज्ञायते ?

यत्कूटस्थेष्ववि[2]चालिषु भावेषु वर्तते । तद्यथा—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति ।

ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते । तद्यथा—सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति । यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतत्—नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणम्, न पुनः कार्ये यः सिद्धः शब्द इति ।

सिद्धशब्द नित्य का पर्यायवाची (समानार्थक) है ।

कैसे ज्ञात होता है (कि नित्य का समानार्थक है) ?

चूँकि (यह सिद्ध शब्द) कूटस्थ (अविनाशी), अविचाली (अन्य स्थान पर न ले जाने योग्य), भावों=पदार्थों के विषय में प्रवृत्त=प्रयुक्त होता है । जैसे—द्युलोक सिद्ध (है), पृथिवी सिद्ध (है), आकाश सिद्ध (है) ।

क्यों महोदय ! कार्य=अनित्य पदार्थों के विषय में भी (यह सिद्ध शब्द) प्रयुक्त होता है । जैसे—भात सिद्ध है, दाल सिद्ध है, यवागू (गीला हलुआ) सिद्ध है । चूँकि (यह सिद्ध शब्द) कार्य=अनित्य पदार्थों के विषय में भी प्रयुक्त होता है तो इस (वार्तिक) में यह कैसे (जाना जाता है कि)—नित्य के पर्यायवाची (सिद्ध) का ग्रहण है न कि जो सिद्ध शब्द कार्य=अनित्य अर्थ में

नित्यता से नित्यता स्वीकार करनी चाहिये । जातिरूप अर्थ की नित्यता सर्वसम्मत है । व्यक्तिवाद में भी प्रवाहनित्यता से अर्थ नित्य सिद्ध हो जाता है । शब्द और अर्थ दोनों के नित्य हो जाने पर उनके सम्बन्ध की नित्यता स्वतः सिद्ध है । क्योंकि अनादिव्यवहारपरम्परा से यही अनुभव होता है ।

शब्दश्च अर्थश्च सम्बन्धश्च - इति शब्दार्थ-सम्बन्धम्—तस्मिन्—शब्दार्थ-सम्बन्धे - यह समाहार-द्वन्द्व है ।

१. सिद्ध शब्द का प्रयोग नित्य एवम् अनित्य दोनों प्रकार के पदार्थों के लिये देखा जाता है । अतः वार्तिकस्थ सिद्ध शब्द के अर्थ का निर्णय करना आवश्यक है ।

२. कूटम्=अयोघनः तद्वत् ये तिष्ठन्ति ते कूटस्थाः । अयः हन्यते-अस्मिन् स अयोघनः । कूट=अयोघन वह लौहपिण्ड है जिसके ऊपर गर्म लोहे को रख कर कूटा जाता है, ऊपर वाले के रूप बदलते रहते हैं किन्तु नीचेवाला कूट एक ही रूप में रहता है । इसी प्रकार द्युलोक, आकाश और पृथिवी भी अविनाशी है । अतः सिद्ध का अर्थ नित्य है ।

संग्रहे[1] तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावात् मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति।

इहापि तदेव।

अथवा सन्त्येकपदान्यप्यवधारणानि[2]। तद्यथा—अब्भक्षो वायुभक्ष इति, अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते।

एवमिहापि—सिद्ध एव, न साध्य इति।

अथवा[3] पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः—अत्यन्तसिद्धः—सिद्ध इति। तद्यथा—देवदत्तः—दत्तः, सत्यभामा—भामेति।

है (उसका ग्रहण है)।

(निम्न चार तर्कों द्वारा वार्तिकस्थ सिद्ध शब्द का नित्य अर्थ उपपादित किया जा रहा है—)

(१) (आचार्य व्याडिरचित) संग्रह (ग्रन्थ) में कार्य=अनित्य का प्रतिद्वन्द्वी होने से (हम) मानते हैं कि नित्य के पर्यायवाचक=समानार्थक (सिद्धशब्द) का ग्रहण है।

यहाँ (इस वार्तिक में) भी वही (नित्यपर्यावाची ही सिद्ध का ग्रहण) है।

(२) अथवा एकपदवाले भी अवधारण होते हैं। जैसे अब्भक्ष (पानी पीनेवाला), वायुभक्ष (हवा खानेवाला)—जल ही पीता है, वायु ही खाता है—यह प्रतीत हो जाता है।

---

१. संग्रह का विचार कैयट ने यह लिखा है—'किं कार्यः (अनित्यः) शब्दोऽथ सिद्धः?' यहाँ कार्य=अनित्य का विरोधी सिद्ध शब्द है। अतः इसका नित्य अर्थ है।

२. कहीं भी अवधारण करने के लिए एक पद के अतिरिक्त 'एव' पद भी रहता है। जैसे—पार्थ एव धनुर्धरः। किन्तु जहाँ 'एव' पद नहीं रहता है। वहाँ भी सामर्थ्यवश अवधारण अर्थ की कल्पना कर ली जाती है। जैसे अब्भक्षः, वायुभक्षः आदि में होता है क्योंकि जलभक्षण और वायुभक्षण तो सभी प्राणी करते हैं। अतः यहाँ अवधारण करने के लिए 'एव' के अर्थ की कल्पना की जाती है—अपएव भक्षयति, वायुमेव भक्षयति। इसी प्रकार यहाँ भी 'सिद्धे एव' यह अर्थ फलित होता है।

३. समासस्थल में 'एव' के अभाव में भी उसका अर्थ प्रतीत होना सम्भव है। किन्तु व्यासस्थल में यह क्लिष्ट कल्पना है। अतः यह तीसरा समाधान है। ''विनापि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्लोपः' इस वार्तिक से नाम के पूर्व और उत्तर पदों का लोप हो जाता है। इसीलिए 'देव' का लोप करने पर केवल

अथवा[1] "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम्" इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः।

किं पुनरनेन वर्ण्येन। किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात्?

मङ्गलार्थम्। (म० भा० वा० १)

माङ्गलिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः

इसी प्रकार इस (वार्तिक) में भी—सिद्ध ही (रहने वाला) न कि साध्य (भी हो सकनेवाला) है।

(३) अथवा यहाँ (सिद्धे में) पूर्वपद का लोप समझना चाहिए—अत्यन्त-सिद्धः=सिद्ध यह है। जैसे—देवदत्त, = दत्त सत्यभामा=भामा यह (होता है)।

(४) अथवा "व्याख्यान द्वारा विशेषबोध (असन्दिग्ध अर्थ का ज्ञान करना चाहिए), क्योंकि सन्देह से अलक्षण = असंगत लक्षण नहीं होता है"—इस प्रकार (वार्तिक में) नित्य के पर्यायवाची (सिद्ध) का ग्रहण है—यह व्याख्या करेंगे।

(यदि नित्य अर्थ का ही ग्रहण इष्ट था) तो यत्न से व्याख्या-योग्य (वर्ण्य) इस (सिद्ध के उल्लेख) से क्या (लाभ)। महान् कण्ठ से (चिल्लाकर स्पष्ट शब्दों में) नित्य शब्द का ही उपादान क्यों नहीं किया, जिसका उपादान करने पर सन्देह नहीं रहता?

मङ्गल के लिए (आदि में सिद्ध शब्द है)।

माङ्गलिक = अनिन्दित अभीष्ट अर्थ के इच्छुक आचार्य (कात्यायन) अत्यन्त विशाल शास्त्रसमुदाय (वार्तिकसमूह) के मङ्गल के लिए आदि (प्रारम्भ) में 'सिद्ध' शब्द का प्रयोग करते हैं। क्योंकि आदि में मङ्गलाचरण वाले शास्त्र प्रथित = विस्तृत (निरन्तर प्रचारित) होते हैं, और वीर पुरुषोंवाले

'दत्त' से भी उस पूरे अर्थ की प्रतीति सम्भव है। यहाँ भी वास्तव में 'अत्यन्त-सिद्ध' है। इसके पूर्वपद 'अत्यन्त' का लोप हो गया है। किन्तु उसका अर्थ प्रतीत होता है। जो त्रिकाल में सर्वथा सिद्ध ही है कभी भी साध्य नहीं—ऐसा मानना चाहिए।

१. संज्ञा शब्दों के पूर्व पद या उत्तर पद का लोप शास्त्र से विहित है। यह संज्ञा शब्द नहीं है, अतः चतुर्थ समाधान दिया गया है।

वृद्ध विद्वानों के परम्परागत व्याख्यान से शब्द, अर्थ एवं सम्बन्ध की नित्यता मानी जाती है। अतः यहाँ भी सिद्ध = नित्य है, ऐसी व्याख्या की जाती है।

प्रयुङ्क्ते । मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति ।

अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते ।

किं तर्हि ?

आभीक्ष्ण्येऽपि वर्तते । तद्यथा—नित्यप्रहसितो नित्यप्रजल्पित इति । यावता आभीक्ष्ण्येऽपि, तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात् "व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम्" इति । पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितुमिति ।

अतः सिद्धशब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः ।

●

अथ कं पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते—सिद्धे, शब्दे, अर्थे सम्बन्धे चेति ?

होते हैं (इन्हें पढ़नेवाले वाद विवाद में कभी भी पराजित नहीं होते हैं)। और दीर्घ आयुष्ययुक्त पुरुषों वाले होते हैं (इनके अध्येताओं की आयु बढ़ती है)। और अध्येतागण सिद्धार्थं = सिद्ध प्रयोजनवाले होते हैं। (इनका अध्ययनोद्देश्य पूरा होता है।)

यह नित्य शब्द (भी) कूटस्थ (अविनाशी) एवम् अविचाली (अन्य स्थान पर न जा सकनेवाले) पदार्थों के विषय में अवश्य (नियतरूप से) नहीं प्रयुक्त होता है।

तो क्या ?

आभीक्ष्ण्य = बाहुल्य (बार बार होना) अर्थ में भी (नित्य शब्द) प्रयुक्त होता है, जैसे—नित्यप्रहसित (बार बार हँसने वाला); नित्यप्रजल्पित (बार बार बोलने वाला, बहुत बक बक करने वाला)। जब (यह नित्यशब्द) आभीक्ष्ण्य अर्थ में भी (प्रयुक्त होता है), तो (इसके ग्रहण) में भी इसी (परिभाषा) से निर्वाह करना पड़ेगा—

"व्याख्यान द्वारा विशेषनिश्चय (होता है), सन्देह से कोई अलक्षण = असंगत लक्षण नहीं होता है।" किन्तु आचार्य (कात्यायन) यह देखते हैं कि आरम्भ में मंगलार्थं ही सिद्ध शब्द प्रयुक्त रहेगा (मैं) इसे नित्य का पर्यायवाची प्रतिपादित कर सकूंगा।

इसीलिये (कात्यायन ने) सिद्ध शब्द का उपादान किया नित्य का नहीं।

●

अब (प्रश्न यह है कि जाति, आकृति और व्यक्ति इन तीनों में) किसको पदार्थ (अर्थ) मान कर यह विग्रह किया जा रहा है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे

आकृतिमित्याह।

कुत एतत् ?

आकृतिर्हि नित्या, द्रव्यमनित्यम्।

अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः ?

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे[1] चेति। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः।

अथवा द्रव्य एव पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति। द्रव्यं हि नित्यम्, आकृतिरनित्या।

कथं ज्ञायते ?

एवं हि दृश्यते लोके—मृत् कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति,

च (शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध = नित्य रहने पर पाणिनि ने अपना शास्त्र बनाया) ?

आकृति (= आकार) को (पदार्थ मानकर यह विग्रह है-)—ऐसा (कोई) कहता है।

यह कैसे ?

क्योंकि आकृति नित्य है और द्रव्य अनित्य।

द्रव्य को अर्थ (पदार्थ) मानने पर कैसा विग्रह करना चाहिये ?

शब्दे अर्थसम्बन्धे च सिद्धे—शब्द और अर्थसम्बन्ध के नित्य रहने पर। क्योंकि अर्थवान् = शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है।

अथवा द्रव्य के ही पदार्थ होने पर यह विग्रह उचित है—सिद्धे शब्दे, अर्थे सम्बन्धे च। क्योंकि द्रव्य नित्य है, (और) आकृति (आकार) अनित्य है।

(यह) कैसे ज्ञात होता है ?

लोक में ऐसा देखा जाता है—मिट्टी किसी आकृति से युक्त पिण्ड (गोला)

---

१. द्रव्यरूप अर्थ अनित्य है। इसे सम्बन्ध का विशेषण बनाकर 'अर्थ-सम्बन्धे = अर्थस्य सम्बन्धे' यह लिखा गया है। इस पक्ष में अर्थ उपसर्जन (विशेषण) हो जाता है। अतः अन्यपदार्थ—नित्य (सिद्ध)—के साथ इसका अन्वय (सम्बन्ध) नहीं किया जा सकता। इस प्रकार शब्द और सम्बन्ध ये दोनों ही नित्य हैं। अर्थ अनित्य है। यद्यपि अर्थ के अनित्य होने पर सम्बन्ध की नित्यता कठिन है तथापि शब्द में अर्थ-बोधजनकत्वरूप योग्यता स्वाभाविक (अनादि) है। जिस प्रकार अग्नि की दाहकता शक्ति काष्ठ आदि पदार्थों के न रहने पर भी अग्नि में रहती ही है। इसी प्रकार अर्थ के अनित्य = न रहने पर भी शब्द की बोधकता उसमें रहती है। नष्ट एवं भावी पदार्थों को बुद्धिस्थ मान कर उनके साथ शब्द के सम्बन्ध की नित्यता सिद्ध की जाती है।

पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते।

तथा सुवर्णं[1] कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति।

ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्या—इति।

नैतदस्ति। नित्याऽऽकृतिः।

कथम्?

न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।

बनती है; पिण्ड का आकार नष्ट करके घटिकायें बनाईं जातीं हैं, घटिकाओं (छोटे छोटे घड़ों) की आकृति नष्ट करके कुण्डिकायें (मिट्टी का पात्रविशेष) बनाईं जातीं हैं।

इसी प्रकार सोना किसी आकृति से युक्त पिण्ड होता है। पिण्ड की आकृति नष्ट करके रुचक (आभूषणविशेष) बनाये जाते हैं, रुचकों की आकृति नष्ट करके कटक (कड़े) बनाये जाते हैं, कटकों (कड़ों) की आकृति नष्ट करके स्वस्तिक (आभूषणविशेष) बनाये जाते है। पुनः आवृत्त (गलाया गया) सुवर्णपिण्ड फिर अन्य आकृति से युक्त खैर के जलते हुये अंगारे के समान (लाल) कुण्डल बन जाते हैं। आकृति भिन्न भिन्न होती रहती है (सुवर्णादि) द्रव्य वही रहता है (नहीं बदलता है)। आकृति के विनाश से (मूल) द्रव्य ही शेष रहता है।

आकृति के भी पदार्थ होने में यह विग्रह उचित है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च।

क्यों जी, (अभी) यह कहा जा चुका है—आकृति अनित्य है।

यह नहीं है। आकृति नित्य है।

कैसे (आकृति नित्य) है?

किसी एक (द्रव्य) में उपरत=अनभिव्यक्त है—यह मानकर सर्वत्र अन-

---

१. मिट्टी का एक आकार बन कर आग से पका दिया जाने के बाद दूसरा रूप बनाना कठिन है। अतः सुवर्ण का दृष्टान्त दिया गया।

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत् तन्नित्यमिति ।[1]

तदपि नित्यं—यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते ।

किं पुनस्तत्त्वम् ?

तद्भावस्तत्त्वम् ।

आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते ।[2]

भिव्यक्त नहीं होती है । अन्य द्रव्य में तो यह (आकृति) उपलब्ध ही होती है ।

अथवा नित्य का यही लक्षण नहीं है—ध्रुव=कूटस्थ (अयोघनसदृश सदैव एकरूप में रहने वाला), अविचालि=अन्यरूप न पाने वाला, अनपाय-उपजन-विकारि=अपाय (अपचय) और उपजन=(परिणाम) रूप विकारों से से रहित, अनुत्पत्ति=उत्पन्न न होने वाला, अवृद्धि=न बढ़ने वाला, अव्यय-योगी=क्षय न होनेवाला जो है, वह नित्य है ।

वह भी नित्य है—जिस (के नष्ट होने) में (भी) तत्त्व नष्ट नहीं होता है ।

(वह) तत्त्व क्या है ?

उस (=वस्तु) का भाव=धर्म तत्त्व है ।

(अवयवसंस्थानरूप) आकृति (के नष्ट होने) में भी तत्त्व=तद्वृत्ति धर्म नष्ट नहीं होता है ।

---

१. निरुक्त में आचार्य वार्ष्यायणि के मतानुसार पदार्थों में छह विकार प्रदर्शित हैं—"जायतेऽस्ति विपरिणमते वर्धतेऽपक्षीयते विनश्यतीति ।" भाष्योक्त नित्यलक्षण में 'अनुत्पत्ति' के द्वारा जायते तथा अस्ति दो विकारों का निरास है । इसी प्रकार 'अनुपजन' से विपरिणाम (परिवर्तन) का, 'अवृद्धि' से 'बढ़ने' का, 'अनपाय' से अपचय का और 'अनव्यय' से 'विनाश' का निराकरण है ।

अनित्यता तीन प्रकार की होती है—संसर्गानित्यता, परिणामानित्यता और प्रध्वंसानित्यता । (१) संसर्गानित्यता—जैसे स्फटिक मणि के समीप लाल फूल रख देने पर स्फटिक में भी रक्तिमा दिखाई देने लगती है और हटा लेने पर समाप्त हो जाती है । संसर्ग से होने के कारण संसर्गानित्यता है । (२) परिणामानित्यता—जैसे आम्र आदि फलों के पकने पर उनका पहलेवाला रंग समाप्त हो कर दूसरा रंग आ जाता । (३) प्रध्वंसानित्यता—पूर्णतया विनाश । नित्यत्व के लक्षण में 'अविचालि' कथन द्वारा परिणामानित्यता और 'अनपाय' कथन द्वारा प्रध्वंसानित्यता का निरास है । संसर्गानित्यता स्वतः सिद्ध है ।

२—अवयवसंस्थानरूप घटादि आकार के विनष्ट हो जाने पर भी उसमें

अथवा किं न एतेन—इदं नित्यम्—इदमनित्यमिति। यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे, शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

कथं पुनर्ज्ञायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति।

लोकतः। (का०वा० १, द्वितीयखण्डम्)

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावाः, निर्वृत्तौ तावत् तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन् कुम्भकारकुलं गत्वाऽऽह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तद्वच्छब्दान् प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान् प्रयोक्ष्य इति।

तावत्येवार्थमुपादाय शब्दान् प्रयुञ्जते।

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते?

अथवा हम लोगों को इससे क्या—'यह नित्य है, यह अनित्य है।' (आकृति और द्रव्य में) जो (भी) नित्य है, उसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—सिद्धे, शब्दे, अर्थे सम्बन्धे च। (शब्द, अर्थ और सम्बन्ध के सिद्ध=नित्य रहने पर)

यह कैसे ज्ञात होता हैं कि—शब्द, अर्थ और सम्बन्ध सिद्ध (नित्य) हैं?

(वा०) लोक से (तीनों की नित्यता ज्ञात होती है।)

चूँकि लोक (व्यवहार) में (उस उस) अर्थ को लेकर (अर्थात् प्रत्येक अर्थ का बोध कराने के लिये) (लोग) शब्दों का प्रयोग करते हैं। (परन्तु) इन (शब्दों) के निर्माण के विषय में (कोई) यत्न नहीं करते हैं। जो कार्य=निष्पाद्य (जन्य, अनित्य) पदार्थ हैं, उनकी निर्वृत्ति=निष्पादन के लिये यत्न किया जाता है। जैसे-घट द्वारा भविष्य में करने वाला (व्यक्ति) कुम्हार के घर जा कर (यह) कहता है—'घड़ा बना दो, इस (घड़े) से मैं (जलानयनादि) कार्य करूँगा।' (परन्तु) इस प्रकार भविष्य में शब्दप्रयोग करने वाला (व्यक्ति) वैयाकरण के घर जाकर यह नहीं कहता है—'शब्द बना दो, (मैं) प्रयोग करूँगा।'

उतने में ही (अर्थात् विवक्षा होने पर वैयाकरण के घर न जाकर ही) अर्थ को लेकर (=बोध कराने के लिये) शब्दों का प्रयोग करते हैं।

यदि इन (शब्द, अर्थ और सम्बन्ध—तीनों की नित्यता) में लोक

रहने वाला घटत्वादिजातिरूप धर्म नष्ट नहीं होता है। अतः धर्म की नित्यता है। और आश्रयप्रवाह का विच्छेद नहीं होता है। इस लिये आश्रयरूप आकृति भी नित्य समझनी चाहिये।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ।

(का० वा० १, तृतीयखण्डम्)

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते[1] ।

किमिदं धर्मनियम इति ?

धर्माय[2] नियमः– धर्मनियमः, धर्मार्थो वा नियमः—धर्मनियम, धर्मप्रयोजनो वा नियमः-धर्मनियमः ।

(व्यहार) प्रमाण है तो (व्याकरण) शास्त्र से क्या किया जाता हैं ? (व्याकरण क्या करता है ?)

व्याकरणद्वारा धर्मनियम

(वा०) लोक से अर्थ के लिये शब्दप्रयोग (सिद्ध रहने) में (व्याकरण) शास्त्रद्वारा धर्मनियम (किया जाता है) ।

लोक (व्यवहार) से अर्थ के लिये शब्दप्रयोग (का ज्ञान सिद्ध हो जाने) में व्याकरण शास्त्र द्वारा धर्मनियम किया जाता है ।

यह धर्मनियम क्या है ?

धर्म के लिये नियम—धर्मनियम, धर्मरूप नियम—धर्मनियम अथवा धर्म का प्रयोजन = प्रयोज्य नियम—धर्मनियम ।

---

१. शब्दार्थसम्बन्ध की नित्यता लोकव्यवहार से ही सिद्ध है । व्याकरण केवल धर्म का नियम करता है कि 'साधु शब्दों के द्वारा ही अर्थ का बोध कराना चाहिये, यही धर्मजनक होता है ।'

२. ये तीन तात्पर्य वाक्य हैं—विग्रहवाक्य नहीं ।

(क) धर्माय = प्रत्यवायपरिहाराय नियमः = साधुशब्देनैव अर्थः प्रतिपादनीयः नासाधुशब्देन—इत्याकारक असाधुशब्द-प्रयोगनिवृत्तिरूप नियम । यहाँ चतुर्थीसमास नहीं है क्योंकि यह तो यूपाय दारू = यूपदारू आदि प्रकृतिविकृतिभाव में ही विहित है । तात्पर्यबोधनार्थ चतुर्थी है । समास तो सम्बन्धसामान्य में षष्ठी मानकर करना चाहिए ।

(ख) नियम धर्म के लिये होता है । अतः नियम को भी धर्म कहा जा सकता है । क्योंकि जो जिस अन्य वस्तु के लिये होता है उसमें उस (अन्य वस्तु) का व्यवहार होता है, उसे भी वह कहा जाता है—तादर्थ्यात् ताच्छब्द्यम्—यह न्याय है । इस प्रकार यहाँ कर्मधारय समझना चाहिये—धर्मः (धर्मार्थः) चासौ नियमश्च इति ।

(ग) धर्म-प्रयोजनः—कुछ प्रभाकरानुयायी मीमांसकों के मतानुसार लिङ्

यथा लौकिकवैदिकेषु । (का वा० १, चतुर्थखण्डम्)

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः । 'यथा लोके वेदे च' इति प्रयोक्तव्ये 'यथा लौकिकवैदिकेषु' इति प्रयुञ्जते ।

अथवा—युक्त एवात्र तद्धितार्थः । "यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु ।"

लोके तावत्—'अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः' 'अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर'

(वा०) जैसा लौकिक एवं वैदिक (सिद्धान्तों के विषय) में (है) ।

दाक्षिणात्य (दक्षिण में रहने वाले विद्वान् कात्यायनादि) तद्धित (प्रत्यय-प्रयोग) के प्रेमी हैं । 'जैसे लोक और वेद में' ऐसे प्रयोग करने के स्थान में 'जैसे लौकिक एवं वैदिक में' ऐसा प्रयोग करते हैं ।

अथवा इस (वार्तिक) में तद्धित (प्रत्यय) का अर्थ उचित ही है—जैसा लौकिक (लोकप्रसिद्ध) एवं वैदिक (वेदप्रसिद्ध) कृतान्तों = सिद्धान्तों (के प्रतिपादक वाक्यों में (देखा जाता है) ।

लोक में जैसे—'गाँववाला कुक्कुट (मुर्गा) भक्ष्य नहीं है, गाँववाला सुअर

आदि विधि का अर्थ है—अपूर्व । इस कल्पना का आधार यह है कि यागादि क्रिया स्वर्गप्राप्ति का साक्षात् साधन (कारण) नहीं हो सकती है क्योंकि याग क्रिया आज हो रही है और त्रिक्षणानन्तर उसका विनाश भी हो रहा है । और स्वर्ग की प्राप्ति एक दीर्घकाल के पश्चात् होने वाली है । अतः अव्यवहितपूर्ववर्ती न हो सकने के कारण स्वर्ग-प्राप्ति और याग क्रिया में कार्यकारणभाव उपपन्न नहीं हो सकता । इस कारण यागादि क्रिया से एक 'अपूर्व' (अदृष्ट) का उत्पन्न होना माना जाता है । यह अपूर्व स्वर्गप्राप्ति के अव्यवहितपूर्ववर्ती क्षण तक स्थिर रहता है । अतः यही स्वर्गप्राप्ति का साधन है । यह अपूर्व ही अपनी सिद्धि के लिये पुरुषों को प्रेरित करता है अतएव 'नियोग' भी कहा जाता है । यह नियोग ही धर्म हैं । इस धर्म से नियम प्रयोजित होता है । धर्म प्रयोजक है । नियम प्रयोज्य है । असाधुशब्दप्रयोगनिवृत्तिरूप नियम का प्रयोजक धर्म = अपूर्व है । इसी की प्राप्ति के लिये नियम है । भाष्य में प्रयोजन प्रयोज्य का पर्याय है । नागेश ने स्पष्ट लिखा है—

"प्रभाकराङ्गीकृतमतेनेदम् । तन्मते हि लिङादीनामपूर्वरूपं कार्यं वाच्यम् । तदेव स्वस्मिन् पुरुषं प्रयुञ्जानं नियोग इत्युच्यते । स एव धर्मः, तेन प्रयुज्यते = आक्षिप्यते इति कर्मल्युडन्तः प्रयोजनशब्दः । स चासाधुनिवृत्तिरूपो नियमः । धर्मप्रयोजन इति षष्ठीसमासः । एवं च द्वितीये धर्मफलको नियम इत्यर्थः । तृतीये धर्मप्रयोज्य इत्यर्थ इति भेदः ।"

इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतीघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत् प्रतिहन्तुम्[1]। तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यम्, इदमभक्ष्यमिति। तथा—खेदात् स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्या, इयमगम्येति।

वेदे खल्वपि—"पयोव्रतो ब्राह्मणः, यवागूव्रतो राजन्यः, आमिक्षाव्रतो वैश्यः" इत्युच्यते! व्रतं च नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन शालिमांसादीन्यपि व्रतयितुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा "बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात्" इत्युच्यते। यूपश्च नाम

भक्ष्य नहीं है,'—ऐसा कहा जाता है। और भक्ष्य = खाने योग्य पदार्थ का उपादान (उल्लेख) क्षुधा की निवृत्ति के लिये किया जाता है। और यह (मनुष्य) कुत्ता आदि के मांस से भी क्षुधा की निवृत्ति कर सकता है। (किसी भी प्राणी का मांस खाकर भूख मिटा सकता है)। इस (प्रसंग) में नियम किया जाता है—यह भक्षणीय है, यह भक्षणीय नहीं है। इसी प्रकार खेद = राग (अथवा इन्द्रियों को वश में न कर सकने के कारण) स्त्रियों के विषय में प्रवृत्ति होती है। समागमयोग्य एवं समागम के अयोग्य दोनों प्रकार की स्त्रियों में समान रूप से खेद = राग की निवृत्ति होती है। इस (प्रसंग) में यह नियम किया जाता है—यह (स्त्री) समागम के योग्य है, यह समागम के योग्य नहीं है।

वेद में भी (नियम देखा जाता है)—"ब्राह्मण पयोव्रती, क्षत्रिय यवागूव्रती और वैश्य आमिक्षाव्रती (हो)" ऐसा कहा जाता है। व्रत का उपादान भक्षणार्थ होता है। और वह (ब्राह्मणादि) शालि (चावल--विशेष) एवं मांसादि का व्रत = भक्षण कर सकता है। इस (सन्दर्भ) में नियम किया जाता है (कि ब्राह्मणादि अमुक वस्तु का ही भक्षण करे)।

इसी प्रकार (वेद में दूसरा यह नियम है)—"(यज्ञीय पशु बांधने का) यूप (खूंटा) बेल या खैर (कत्था) का ही होना चाहिये" यह कहा जाता है।

---

१. शक्यं क्षुत् प्रतिहन्तुम्—(१) यहाँ लिंग-सर्वनाम नपुंसकयुक्त कर्मसामान्य अर्थ में शक् धातु से यत् (कृत्य) प्रत्यय होने पर 'शक्यम्' रूप बना है। बाद में क्षुधारूप स्त्रीलिंग से सम्बन्ध होने पर भी नपुंसकत्व ही रहता है। (२) यदि पहले से ही क्षुत् (क्षुधा) रूप स्त्रीलिंग कर्मविशेष का सम्बन्ध किया जाय तो स्त्रीलिंग का विशेषणरूप 'शक्या क्षुत् प्रतिहन्तुम्'--यह होता है। (३) यदि प्रतिहनन (प्रतिघात क्रिया का कर्म क्षुत् और शक्नोति का कर्म प्रतिघात हो, तो 'क्षुधं प्रतिहन्तुं शक्यम्' यह रूप होता है। सभी रूप शुद्ध हैं।

पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्यानुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्धुम्। तत्र नियमः क्रियते।

तथा "अग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते—भृगूणामङ्गिरसां घर्मस्य तपसा तप्यध्वम्" इति। अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति। तत्र च नियमः क्रियते। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति।

एवमिहापि समानायामर्थगतौ शब्देनापशब्देन च धर्मनियमः क्रियते—शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति। एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति[1]।

—०—

अस्त्यप्रयुक्तः। (का. वा. २ वार्तिकांशः)

सन्ति[2] वै शब्दा अप्रयुक्ताः। तद्यथा-ऊष, तेर, चक्र, पेच इति।

और यूप का उपादान (यज्ञीय) पशु को बांधने के लिये रहता है। वह (याज्ञिक) किसी भी काष्ठ को छीलकर (चिकना बनाकर) अथवा न छीलकर पशु को बांध सकता है। इस (प्रसंग) में नियम किया जाता है।

इसी प्रकार—"आग में कपालों (मिट्टी के पात्रों) को चढ़ा कर अभिमन्त्रित किया जाता है—"अंगिरस् भृगुओं के घर्म = तेज की गरमी से तपो = गरम हो जाओ।" मन्त्र के (उच्चारण के) विना भी दाहकस्वभाववाला अग्नि कपालों को सन्तप्त करता (ही) है। और इस (प्रसंग) में नियम किया जाता है। इस प्रकार (नियमानुसार) किया जाना अभ्युदयकारक होता है।

इसी (उक्त रीति) के समान यहां भी शब्द (संस्कृत) और अपशब्द (दोनों) से समान अर्थबोध (होने) में धर्मनियम किया जाता है—'(संस्कृत) शब्द से ही अर्थबोध करवाना चाहिये अपशब्द के द्वारा नहीं।' ऐसा करना अभ्युदयकारक होता है।

—०—

सभी शब्दों का संस्कार आवश्यक

(वा०) अप्रयुक्त (भी शब्द) है।

---

१. शुद्ध शब्द और अपशब्द दोनों से अर्थप्रतीति एक ही प्रकार की होती है। किन्तु शुद्ध शब्दों से अर्थप्रतीति और धर्मोत्पत्ति दोनों होती है। यही दोनों के प्रयोग में अन्तर है।

२. व्याकरण शास्त्र प्रयोगमूलक है। अतः जिन शब्दों का प्रयोग नहीं प्राप्त होता है, उनका अन्वाख्यान करना व्यर्थ है। इसी का निराकरण करके सभी शब्दों के अन्वाख्यान का समर्थन करने के लिये यह विवेचन किया जा रहा है।

किमतो यत् सन्त्यप्रयुक्ताः ?

प्रयोगाद्धि भवान् शब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ताः, नामी साधवः स्युः।

इदं तावद् विप्रतिषिद्धम्-यदुच्यते—'सन्ति वै शब्दाः, अप्रयुक्ता' इति।

यदि सन्ति, नाप्रयुक्ताः।

अथाप्रयुक्ताः, न सन्ति। सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात् ?

नैतद् विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद्ब्रूमः; यदेतान् शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते।

अप्रयुक्ता इति ब्रूमः, यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति।

यदप्युच्यते—कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यात्, इति।

न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति।

निश्चितरूप से अप्रयुक्त शब्द भी हैं। जैसे—ऊष, तेर, चक्र और पेच।

इससे क्या कि अप्रयुक्त (भी शब्द) हैं ?

आप (वैयाकरण) प्रयोग से ही शब्दों के साधुत्व का निश्चय करते हैं। (अतः) इस समय जो (शब्द) अप्रयुक्त हैं, वे (शब्द) साधु नहीं हो सकते।

यह तो परस्परविरुद्ध है—जो कहते हैं—शब्द निश्चितरूप से हैं, (किन्तु) अप्रयुक्त हैं।

यदि हैं, तो अप्रयुक्त नहीं (हो सकते)।

और यदि अप्रयुक्त हैं, तो नहीं हैं। (शब्द) हैं और अप्रयुक्त हैं—यह परस्परविरुद्ध है। (इन शब्दों का) प्रयोग करते हुये ही आप (यह) कह रहे हैं—अप्रयुक्त (भी) शब्द हैं। इस समय आप के समान कौन दूसरा व्यक्ति शब्दों के प्रयोग में साधु=कुशल होगा ?

यह परस्परविरुद्ध नहीं है। (शब्द) हैं—यह (हम) इसलिये कह रहे हैं, चूँकि शास्त्रकार (वैयाकरण) शास्त्रद्वारा इन (शब्दों) का अनुविधान (संस्कार) करते हैं।

(और) अप्रयुक्त हैं, इसलिये कहते हैं चूँकि लोक में अप्रयुक्त हैं।

और आप जो यह कह रहे हैं—'आप के समान दूसरा कौन व्यक्ति इस समय शब्दों के प्रयोग में साधु=कुशल होगा।' (इसका स्पष्टीकरण यह है कि) हम यह नहीं कह रहे हैं कि हमारे द्वारा अप्रयुक्त हैं।

किं तर्हि ?

लोकेऽप्रयुक्ता इति।

ननु च भवानप्यभ्यन्तरो लोके।

अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः।

अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्न, अर्थे शब्दप्रयोगात्। (का. वा. २)

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत्, तन्न।

किं कारणम् ?

'अर्थे शब्दप्रयोगात्'—अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते।

अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्[1]। (का. वा. ३)

अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः।

तो क्या ?

लोक में अप्रयुक्त हैं (ऐसा कह रहे हैं)।

क्यों, आप भी तो लोक के मध्य में (हैं)।

(हाँ,) मैं लोक के मध्य में हूँ, किन्तु लोक तो नहीं हूँ।

(वा०) (शब्द) अप्रयुक्त है, ऐसा यदि (कहो तो) नहीं, अर्थ के विषय में शब्द का प्रयोग होने से।

(शब्द) अप्रयुक्त है, ऐसा यदि (कहो तो) वह नहीं (कह सकते)।

क्या कारण है ?

अर्थ में शब्द प्रयोग के कारण—अर्थ में (अर्थविषयक ज्ञान कराने के लिये) शब्द प्रयुक्त होते हैं। और इन शब्दों के अर्थ हैं, जिन अर्थों में (ये ऊष, तेर आदि) प्रयुक्त होते हैं।

(वा०) (ऊष, तेर आदि का) अप्रयोग है, अन्य शब्दों का प्रयोग होने से।

इन (ऊष, तेर आदि) शब्दों का अप्रयोग भी उचित (तर्कसंगत) है।

---

१. प्रयुज्यते इति प्रयोगः = शब्द। (व्याकरण शास्त्र में 'प्रयोग' का अर्थ 'शब्द' भी है। इसीलिये 'प्रयोगसिद्धि' शब्द का प्रचलन है)। प्रयोगः = (शब्दः) अन्यः अस्य सः प्रयोगान्यः—अन्य शब्दवाला अर्थ। तस्य भावः प्रयोगान्यत्वम्, तस्मात् प्रयोगान्यत्वात्। तात्पर्य यह है कि एक ही अर्थ के बोध के लिये अन्य अनेक शब्दों का प्रयोग देखा जाता है। अतः दूसरे शब्दों से ऊष, तेर आदि के अर्थ का ज्ञान हो जाने पर इनका प्रयोग नहीं होता है। अतः यह कहा जा सकता है, ये शब्द अप्रयुक्त ही हैं।

कुतः ?

'प्रयोगान्यत्वात् ।' यदेतेषां शब्दानामर्थेऽन्यान्छब्दान् प्रयुञ्जते। तद्यथा—'ऊष' इत्यस्य शब्दस्यार्थे—क्व यूयमुषिताः, 'तेर' इत्यस्यार्थे—क्व यूयं तीर्णाः, 'चक्र' इत्यस्यार्थे—क्व यूयं कृतवन्तः, पेच' इत्यस्यार्थे—क्व यूयं पक्ववन्त इति ।

अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत् । (का० वा० ४)

यद्यप्यप्रयुक्ताः अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः। तद्यथा—दीर्घसत्राणि वार्षशतिकानि वार्षसहस्रिकाणि च । न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति । केवलमृषिसम्प्रदायो धर्म इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते ।

सर्वे देशान्तरे । (का० वा० ५)

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते ।

न चैवोपलभ्यन्ते ।

कैसे ?

'अन्य शब्दों का प्रयोग होने से ।' क्योंकि इन शब्दों के अर्थ के विषय में अन्य शब्दों का प्रयोग (लोग) करते हैं। जैसे-'ऊष'-इस शब्द के अर्थ में—क्व यूयम् उषिताः (तुम कहाँ रहे), 'तेर' इस (शब्द) के अर्थ में 'क्व यूयं तीर्णाः (तुम कहाँ तैरे), 'चक्र' इस (शब्द) के अर्थ में 'क्व यूयं कृतवन्तः (तुमने कहाँ किया) 'पेच' इस (शब्द) के अर्थ में 'क्व यूयं पक्ववन्तः (तुमने कहाँ पकाया)। [यहाँ लिट् मध्यमपुरुष बहुवचन के स्थान पर क्त एवं क्तवतु—(निष्ठा) प्रत्ययान्त शब्दरूप प्रयुक्त हैं ।]

(वा०) अप्रयुक्त (शब्द) के विषय में दीर्घ (कालिक) यज्ञ के समान।

यद्यपि (कुछ शब्द) अप्रयुक्त (हो सकते हैं), दीर्घ (काल में सम्पन्न होने वाले) सत्रों के समान सूत्र (लक्षण) से (इन शब्दों का) अनुविधान = संस्कार अवश्य करना चाहिए। जैसे—सौ वर्षों में होने वाले और हजार वर्षों में होने वाले बड़े यज्ञ हैं, परन्तु आजकल कोई इन बड़े-बड़े यज्ञों का अनुष्ठान नहीं करता है। ऋषिसम्प्रदाय = वेदाध्ययन केवल धर्म है, यह मानकर (लोग पढ़ते हैं और) याज्ञिक (आचार्य) (यज्ञप्रक्रियाप्रतिपादक कल्पसूत्ररूप) शास्त्र से (इन सत्रों का) अनुविधान करते हैं।

(वा०) सभी (शब्द) दूसरे देशों (स्थानों) में (प्रयुक्त होते हैं)।

ये सभी शब्द अन्य देशों (स्थानों) में प्रयुक्त होते हैं।

परन्तु उपलब्ध तो नहीं होते हैं।

उपलब्धौ यत्नः क्रियताम् ! महान् शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः, सरहस्या बहुधा भिन्नाः—एकशतमध्वर्युशाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यम्, नवधाऽथर्वणो वेदः, वाकोवाक्यम्, इतिहासः, पुराणं, वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ताः इति वचनं (केवलं) साहसमात्रमेव।

एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा—शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति, विकार एनमार्या भाषन्ते-शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः

उपलब्धि के विषय में प्रयास करना चाहिए। शब्दप्रयोग का क्षेत्र बहुत विशाल है। सात द्वीपोंवाली पृथिवी, तीन लोक, (छह) वेदाङ्गों सहित और उपनिषदों के सहित चार वेद अनेक शाखाओंवाले हैं—यजुर्वेद की एक सौ (अथवा एक सौ एक) शाखायें, एक हजार वर्त्मवाला सामवेद, इक्कीस प्रकार का बाह्वृच्य[2] (ऋग्वेदियों का वेद इक्कीस प्रकार का है), अथर्ववेद[3] नौ प्रकार का, वाकोवाक्य (प्रश्नोत्तररूप ग्रन्थ), इतिहास (महाभारतादि), (अठारह) पुराण, वैद्यक (ग्रन्थ)—इतना विशाल क्षेत्र शब्दों के प्रयोग का है। शब्द के प्रयोग के इतने विशाल क्षेत्र को विना देखे यह कहना 'अप्रयुक्त शब्द हैं' (केवल) साहसमात्र है।

शब्दप्रयोग के इस अत्यन्त विशाल क्षेत्र में वे वे (विशेष विशेष) शब्द उन उन अर्थों में नियतविषय वाले दिखाई देते हैं। जैसे—शवतिः (शव् धातु) गतिकर्मक (गमन अर्थ में) कम्बोज (ईरान के समीपवर्ती) में ही बोली जाती है, (किन्तु) आर्य लोग इस (शव् धातु) को विकार (मृत=शरीर) अर्थ में बोलते हैं (प्रयोग करते हैं)—शव। सुराष्ट्र (गुजरात) में हम्म, प्राच्य-

---

१. समस्तवाङ्मय का अवलोकन जब तक न कर लिया जाय तब तक किसी शब्द का अप्रयोग कहना केवल दुस्साहस ही है।

२. बह्वृचानामाम्नायो बाह्वृच्यम्। "छन्दोगौक्थिक-याज्ञिक-बह्वृच-नटाञ्यः" (पा० सू० ४।३।१२९) इस सूत्र से ञ्य प्रत्यय होता है।

३. अथर्वणा ऋषिणा प्रोक्तो वेद आथर्वणः "अन्" (पा० सू० ६।४।१६७) सूत्र से प्रकृतिभाव है। तमधीयते आथर्वणिकाः, "वसन्तादिभ्यष्ठक्" (पा० सू०) ४।२।६३) सूत्र से ठक्=इक, तेषामामाम्नाय आथर्वणः "आथर्वणिकस्य०" (का० वा०) से अण् प्रत्यय होने पर इक का लोप करने पर पुनः आथर्वणः रूप रह जाता है।

प्राच्यमध्यमेषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।[1]

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते।

क्व ?

वेदे। तद्यथा—"यद्वो रेवतीरेवत्यन्तमूष, यन्मेनरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नरश्चक्रा जरसं तनूनाम्" इति।

•

किं[2] पुनः—शब्दस्य ज्ञाने धर्मः, आहोस्वित् प्रयोगे ?

कश्चात्र विशेषः ?

मध्य क्षेत्र में रह, (किन्तु) आर्य लोग गम् का ही प्रयोग करते हैं। पूर्व क्षेत्र में लवन=काटना अर्थ में दाति (का प्रयोग करते हैं), उत्तर क्षेत्र में (लवन अर्थ में) दात्र (का प्रयोग करते हैं)।[3]

और जिन शब्दों को आपने अप्रयुक्त स्वीकार किया है, उनका भी प्रयोग दिखाई पड़ता है।

कहाँ ?

वेद में। जैसे—(सख्यास्ये रेवतीरेवदूष), यद्वो रेवतीरेवत्यन्तमूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नरश्चक्रा जरसं तनूनाम्। (इनमें ऊष और चक्र का तो प्रयोग है ही, इसी प्रकार तेर एवं पेच का भी कहीं न कहीं प्रयोग अवश्य होगा।)

•

शब्दों के ज्ञान या प्रयोग में धर्म

क्या शब्द के (केवल) ज्ञान में धर्म (प्राप्त होता है), अथवा (केवल) प्रयोग में ?

इसमें विशेष (=अन्तर) क्या है ?

---

१. दा+क्तिन् (ति) या दा+क्तिच् (ति)=दाति। दा+ष्ट्रन् (त्र)=दात्र। चारुदेव शास्त्री ने "दा (तिङन्त) का काटने अर्थ में प्रयोग" यह असंगत लिखा है। क्योंकि नागेश ने स्पष्ट लिखा है-"क्तिन्नन्तं क्तिजन्तं वा।"

२. "एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुक् भवति।" (ऋक् ६।१।४) इस श्रुति से सम्यग् ज्ञान और सुप्रयोग में धर्मप्राप्ति सिद्ध है। किन्तु सुप्रयोग देखकर सम्यग् ज्ञान का और सम्यग् ज्ञान से सुप्रयोग का अनुमान होता है। एक दूसरे के अनुमापक हैं। अतः इनमें किसी एक को अथवा दोनों को धर्मप्राप्ति का कारण माना जाय ? इसके लिये यह विचार है।

३. एक धातु विभिन्न अर्थों में अलग-अलग स्थानों पर और अलग अलग प्रत्ययों के साथ प्रयुक्त होने से प्रयोगबाहुल्य सुस्पष्ट है।

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः। (का० वा० ६)

ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मः प्राप्नोति। यो हि शब्दान् जानाति, अपशब्दानप्यसौ जानाति। यथैव शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः।

अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति। भूयांसो ह्यपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दाः एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा—गौरित्यस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

आचारे नियमः। (का० वा० ७)

आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते—"तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः" इति[1]।

अस्तु तर्हि प्रयोगे।

प्रयोगे सर्वलोकस्य। (का० वा० ८)

यदि प्रयोगे धर्मः, सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?

(वा०) ज्ञान में धर्म-ऐसा यदि है तो अधर्म (भी)।

ज्ञान में धर्म (प्राप्त होता है)—ऐसा यदि (माना जायगा) तो अधर्म भी (प्राप्त होता है)। क्योंकि जो (संस्कृत) शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है। जिस प्रकार (संस्कृत) शब्दों के ज्ञान में धर्म (होता है), इसी प्रकार अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म (भी होता है)।

अथवा अधर्म अधिक प्राप्त होता है, क्योंकि अपशब्द अधिक हैं और (संस्कृत) शब्द (अपेक्षाकृत) कम हैं। एक एक संस्कृत शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं। जैसे—गौः इस (एक संस्कृत शब्द) के—गावी, गोणी, गोता (और) गोपोतलिका—आदि इसी प्रकार (अनेक) अपभ्रंश (होते हैं)।

(वा०) आचार=प्रयोग में नियम (देखा जाता है)।

ऋषि (वेदवचन) (शब्दों के) प्रयोग में नियम बतलाता है—"वे असुरलोग हेलयः हेलयः ऐसा प्रयोग करते हुये पराजित हो गये।"

तो प्रयोग में (ही धर्म) हो।

(वा०) प्रयोग में (धर्म होने पर) सभी लोगों का (अभ्युदय होने लगेगा)।

यदि (शब्दों के केवल) प्रयोग में धर्म (हो तो) सभी लोग अभ्युदय= धर्मप्राप्ति से युक्त होने लगेंगे।

---

१. इस आख्यान का वर्णन पहले किया जा चुका है। इससे प्रयोग में ही अधर्म और धर्म की प्राप्ति सूचित होती है।

कश्चेदानीं भवतो मत्सरः यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत ?

न खलु कश्चिन्मत्सरः। प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवता च नाम यत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद्व्यतिरेच्यः[1]।

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान् प्रयोक्ष्यन्ते अत एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते।

व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यन्ते हि कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणाः अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः, तत्र फलव्यतिरेकोऽपि स्यात्[2]।

एवं तर्हि—नापि ज्ञान एव धर्मः, नापि प्रयोग एव।

किं तर्हि ?

शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्य वेदशब्देन। (का० वा० ९)

इस समय (इस पक्ष में) आपको क्या मात्सर्य (जलन) है यदि सभी लोग अभ्युदय से युक्त होने लगें ?

(हमें) कोई मात्सर्य (जलन) नहीं है (व्याकरणाध्ययन का) प्रयत्न तो व्यर्थ होता है। और प्रयत्न को फलयुक्त ही होना चाहिये। प्रयत्न फल से वञ्चित नहीं किया जाना चाहिये। (प्रयत्न का कोई न कोई फल अवश्य होना चाहिये।)

क्यों, जिन्होंने (व्याकरणाध्ययन में) प्रयत्न किया है वे (अपेक्षाकृत) अधिक अच्छा प्रयोग करेंगे। इसी लिये अधिक अभ्युदय से युक्त (भी) होंगे।

(इसमें) व्यतिरेक (वैपरीत्य) भी देखा जाता है। क्योंकि प्रयत्न करने वाले अप्रवीण (मूर्ख) और प्रयत्न न करने वाले प्रवीण (चतुर) दिखाई देते हैं। इसमें फलवैपरीत्य भी हो सकता है।

यदि ऐसा है तो—न केवल ज्ञान में धर्म (प्राप्त होता है) और न केवल प्रयोग में।

तो क्या (होता है) ?

वा० शास्त्र (-ज्ञानपूर्वक शब्द-) प्रयोग में अभ्युदय होता है, यह वेद-

---

१. व्याकरणाध्ययन में प्रयत्न न करके काव्यादि से संस्कृत सीखकर प्रयोग करने लगेंगे। अतः प्रयत्न का वैयर्थ्य स्पष्ट है।

२. लोकव्यवहार में देखा जाता है कि परिश्रम करने वाले उतने कुशल नहीं बन पाते जितने परिश्रम न करने वाले चालाक व्यक्ति हो जाते हैं। इसीलिये फलप्राप्ति में भी ये व्यक्ति आगे हो जाते हैं, परिश्रमी पीछे रह जाते हैं। अतः केवल प्रयोग में धर्म मान लेने पर व्याकरण-अध्ययन में कोई भी प्रयत्न नहीं करना चाहेगा।

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—"योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद" "योऽग्निं नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद"।[१]

अपर आह—

तत्तुल्यं वेदशब्देन इति।

यथा—वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्ति, एवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान् प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति।

अथवा पुनरस्तु—

ज्ञान एव धर्मः इति।

ननु चोक्तम्—"ज्ञाने धर्म इति चेत् तथाऽधर्मः" इति।

नैष दोषः, शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।

शब्द के तुल्य है।

जो (व्यक्ति) शास्त्र (-ज्ञान-) पूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वही अभ्युदय=कल्याण से युक्त होता है। 'यह वेदशब्दों के तुल्य है'। वेदशब्द भी इसी प्रकार कहते हैं—"जो अग्निष्टोम याग करता है, जो इसे (शास्त्र से) जानता है" "जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है, जो इसे (शास्त्र से) जानता है"।

दूसरा (व्याख्याता) कहता है—

"वह वेदशब्द के तुल्य है।"

जैसे—नियमपूर्वक पढ़े गये वेदशब्द फलवाले (फलप्रदायक) होते हैं इसी प्रकार जो शास्त्रपूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है।

अथवा फिर (वही) हो—

ज्ञान में ही धर्म (होता है)। (क्योंकि ज्ञान विशिष्ट प्रयोग में दोनों की आवश्यकता होने से गौरव होता है। इसलिये यही सिद्धान्तपक्ष है।)

क्यों जी, यह (दोष) कहा जा चुका है—'ज्ञान में धर्म होता है यदि, तो उसी प्रकार अधर्म (भी) होता है।

यह दोष नहीं है। हम (वैयाकरण) (श्रुति और आप्तोपदेशादि रूप) शब्द

---

१. वैदिक अनुष्ठानों में जैसे ज्ञान रखने वाला ही अनुष्ठान करके धर्मप्राप्ति करता है, इसी प्रकार अन्यत्र भी ज्ञानपूर्वक ही शब्दों के प्रयोग से धर्मप्राप्ति माननी चाहिये, केवल प्रयोग से या ज्ञान से नहीं।

शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् । यच्च पुनरशिष्टा-प्रतिषिद्धम्, नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद्यथा—हिक्कित-हसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय ।

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं शब्दज्ञाने ।[1] यो हि अपशब्दान् जानाति शब्दानप्यसौ जानाति । तदेवं 'ज्ञाने धर्मः' इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—'अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्मः' इति ।

अथवा कूपखानकवदेतद् भविष्यति । तद्यथा—कूपखानकः कूपं खनन् यद्यपि मृदा पांशुभिश्चावकीर्णो भवति, सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुण-मासादयति, येन स च दोषो निर्हण्यते भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति । एवमिहापि यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मः, तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन स च दोषो निर्घानिष्यते, भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति ।[2]

को (ही) प्रमाण मानने वाले हैं । (ऐसा) शब्द जो कहता है वही हमारा प्रमाण (प्रमात्मक ज्ञान का कारण) है । (एकः शब्दः सम्यग् ज्ञातः आदि पूर्वोक्त वेदरूप) शब्द शब्दज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता है । और जो अशिष्ट तथा अप्रतिषिद्ध है (जिसका न अनुशासन है, न निषेध है) वह न दोष के लिये होता है और न अभ्युदय के लिये । जैसे—हिचकी लेना, हंसना और खुजलाना—न दोष के लिये होते हैं और न अभ्युदय के लिये ।

अथवा (संस्कृत) शब्दों के ज्ञान में अपभ्रंश शब्दों का ज्ञान उपाय ही है । क्योंकि जो अपभ्रंश शब्दों को जानता है वह (संस्कृत) शब्दों को भी जानता है । तो इस प्रकार 'ज्ञान में धर्म होता है' ऐसा कहने वाले को अर्थतः यह प्रतीत (ज्ञात) हो जाता है कि—'अपशब्दज्ञानपूर्वक शब्दज्ञान में धर्म होता है ।'

अथवा कुआँ खोदने वाले के समान यह होगा । जैसे—कुआँ खोदने वाला (पुरुष) कुआँ को खोदते हुये यद्यपि मिट्टी और पांशु (=कीचड़, धूल) से

---

१. जिस प्रकार 'आग लाओ' ऐसा कहा जाने पर विना कहे हुये ही किसी पात्र में रख कर आग लायी जाती है । क्योंकि केवल आग पकड़ कर लाना सम्भव नहीं है । इसी प्रकार केवल शब्दों का ज्ञान भी सम्भव नहीं है । अपशब्द-ज्ञान इसमें अनिवार्य है, माध्यम है । अतः इसे पृथक् कहना अनावश्यक है ।

२. कुआँ खोदते समय मिट्टी, कीचड़ आदि सभी उस व्यक्ति के शरीर में लिपट जाते हैं । किन्तु जब जल निकल आता है तो उससे वह शरीर की गन्दगी दूर कर लेता है साथ ही साथ लोकोपकाररूप धर्म भी पाता है । उसी प्रकार संस्कृत शब्दों के ज्ञान से जो पुण्य होता है उससे अपशब्दज्ञानजन्य अधर्म तो नष्ट होता ही है, साथ ही पुण्यप्राप्ति भी होती है ।

यदप्युच्यते "आचारे नियमः" इति ।

याज्ञे कर्मणि स नियमः, अन्यत्रानियमः । एवं हि श्रूयते—"यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः, परापरज्ञा, विदितवेदितव्या, अधिगतयाथातथ्याः" । ते तत्रभवन्तो 'यद्वा नः' 'तद्वा नः' इति प्रयोक्तव्ये 'यर्वाणः—तर्वाणः' इति प्रयुञ्जते, याज्ञे कर्मणि पुनर्नापभाषन्ते । तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम्, ततस्ते पराभूताः ।[1]

●

व्याप्त हो जाता है, वही पुरुष पानी निकल आने पर उसी पानी से वह (इष्टसाधक) गुण प्राप्त कर लेता है, जिससे वह (कीचड़, धूल आदि से लिप्त होना) दोष दूर कर दिया जाता है और महान् अभ्युदय से योग भी होता है । इसी प्रकार यहाँ भी यद्यपि अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म होता है, तथापि शब्दज्ञान में जो धर्म होता है, उससे वह (अपशब्द-ज्ञानजन्य) दोष नष्ट कर दिया जायगा और महान् अभ्युदय से योग (सम्बन्ध, प्राप्ति) होगा ।

और जो यह भी कहा जाता है—'प्रयोग में नियम है ।'

वह नियम (केवल) याग-सम्बन्धी कार्यों के विषय में है, अन्यत्र (कोई) नियम नहीं है । (वैदिक आख्यानों में) ऐसा सुना जाता है—"यर्वन् (और) तर्वन् नामक ऋषि हुये थे । (जो) धर्म का साक्षात्कार करने वाले, पर और अपर (विद्याओं) को जानने वाले, ज्ञेयपदार्थमात्र का ज्ञान रखने वाले, पदार्थमात्र के वास्तविक रूप को जानने वाले थे । आदरणीय वे ऋषि लोग 'यद् वा नः' 'तद् वा नः' (जो कुछ हमारे लिये है वह हमारे लिये हो)' ऐसे प्रयोग करने के प्रसंग में (वैसा न कहकर) 'यर्वाणः, तर्वाणः' ऐसा प्रयोग करते थे । किन्तु यज्ञ-सम्बन्धी कर्म में अपभाषण नहीं करते थे । किन्तु उन असुरों ने यज्ञकर्म में (भी) अपभाषण (अपशब्दोच्चारण) किया, इसी से वे पराजित हो गये ।[2]

●

---

१. इसका विशेष विवेचन व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनों के प्रसंग में प्रस्तुत किया जा चुका है । वहीं "तेऽसुराः हेलयो हेलयः" इस की व्याख्या देखनी चाहिये ।

२. इस विवेचन से यही सिद्ध होता है कि शब्दों का ज्ञान ही धर्म का जनक होता है । यज्ञसम्बन्धो कार्यों में अपशब्दों का प्रयोग अधर्मजनक होता है किन्तु सामान्य व्यवहार में ऐसा नहीं है । शब्द और अपशब्द दोनों के प्रयोग से अर्थबोध समानरूप से किया जाता है ।

अथ[1] व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ?

सूत्रम् ।

उपपन्न = प्राप्त

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः । (का. वा. १०)

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो[2] नोपपद्यते—'व्याकरणस्य सूत्रम्' इति । किं हि तदन्यत् सूत्रात् व्याकरणं, यस्यादः सूत्रं स्यात् ?

शब्दाप्रतिपत्तिः । (का. वा. ११)

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति—'व्याकरणाच्छब्दान् प्रतिपद्यामहे'[3] इति । न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते ।

व्याकरणपदार्थ का विवेचन

व्याकरण—इस शब्द का क्या (वाच्य) अर्थ है ?

सूत्र (व्याकरण का वाच्यार्थ है) ।

(वा०) सूत्र के व्याकरण (वाच्य) होने पर षष्ठ्यर्थ उपपन्न नहीं ।

सूत्र के व्याकरण (का अर्थ) होने पर षष्ठी का अर्थ (सम्बन्ध) उपपन्न नहीं होता है—व्याकरणस्य सूत्रम् (व्याकरण का सूत्र) । सूत्र से भिन्न वह व्याकरण (पदार्थ) क्या है जिसका (सम्बन्धी) यह सूत्र होगा ? [यह प्रथम दोष है ।]

(वा०) शब्दों की प्रतिपत्ति = ज्ञान नहीं (हो सकता) ।

और शब्दों की प्रतिपत्ति (= ज्ञान) नहीं प्राप्त होती है—'व्याकरण से शब्दों का ज्ञान करते हैं ।' क्योंकि (लोग) केवल सूत्र से शब्दों का ज्ञान नहीं कर पाते हैं । [यह दूसरा दोष है ।]

---

१. प्रारम्भ में व्याकरणाध्ययन के प्रयोजनप्रतिपादन करते हुये व्याकरण का महत्त्व प्रदर्शित किया गया है । लोकव्यवहार में व्याकरण से दो पदार्थ समझे जाते हैं (१) "इको यणचि" (पासू० ६।१।७७) आदि सूत्र और (२) सुद्ध्युपास्यः आदि शब्द । अब विचारणीय यह है कि इन दोनों में किसी एक को व्याकरण का अर्थ माना जाय अथवा दोनों के समुदाय को । इन तीन पक्षों का विवेचन यहाँ प्रस्तुत है ।

२. षष्ठी का अर्थ सम्बन्ध है । इसके लिये दो भिन्नभिन्न सम्बन्धी पदार्थ अपेक्षित हैं । जैसा 'राज्ञः पुरुषः' आदि में होता है । यहाँ जब व्याकरण का वाच्यार्थ सूत्र माना जाता है तो दोनों एक पदार्थ हो जाते हैं, भेद नहीं रहता है । अतः जैसे मनुष्यस्य पुरुषः नहीं होता है वैसे ही व्याकरणस्य सूत्रम् भी नहीं हो सकता ।

३. लोकव्यवहार यही है कि व्याकरण से शब्दों का ज्ञान प्राप्त होता है । परन्तु केवल सूत्र से ऐसा सम्भव नहीं है ।

किं तर्हि ?

व्याख्यानतश्च ।[1]

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति ।

न केवलं चर्चापदानि[2] व्याख्यानम्—'वृद्धिः, आत्, ऐच्,' इति ।

किं तर्हि ?

उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारः—इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति ।

एवं[3] तर्हि शब्दः ।

शब्दे ल्युडर्थः । (का. वा. १२)

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो नोपपद्यते-व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् ।[4] न हि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते ।

तो क्या (=तो कैसे ज्ञान करते हैं) ?

व्याख्यान से भी ।

क्यों, वही सूत्र विगृहीत (अलग-अलग पदों वाला) होता हुआ व्याख्यान हो जाता है ।

केवल विभज्यमान पद व्याख्यान नहीं होते हैं—वृद्धिः, आत्, ऐच् - यह ।

तो क्या (व्याख्यान होता है) ?

उदाहरण (जहाँ सूत्र की प्रवृत्ति होती है), प्रत्युदाहरण (जहाँ सूत्र की प्रवृत्ति नहीं होती है), वाक्याध्याहार (अपेक्षित अंश की अनुवृत्ति अथवा वार्तिकांश की कल्पना)—यह सब मिलकर व्याख्यान होता है ।

ऐसा है तो शब्द (=लक्ष्य) (व्याकरण का अर्थ है) ।

(वा०) शब्द (अर्थ होने) में ल्युट् का अर्थ (करणत्व) उपपन्न नहीं हो सकता) । [यह प्रथम दोष है ।]

यदि शब्द व्याकरण (का वाच्यार्थ है तो) ल्युट् प्रत्यय का अर्थ=करणत्व

---

१. व्याख्यानसहित सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान होता है क्योंकि व्याख्यान के अंगभूत उदाहरण के अन्तर्गत शब्द आते हैं ।

२. चर्च्यमानानि=विभज्यमानानीत्यर्थः । नागेश ।

३. उपर्युक्त दोनों दोषों को दूर करने के लिए व्याकरण का वाच्यार्थ शब्द= लक्ष्य मानना चाहिए । इस द्वितीय पक्ष में षष्ठ्यर्थ की अनुपपत्ति नहीं हैं क्योंकि 'व्याकरणस्य=शब्दस्य (लक्ष्यस्य) सूत्रम्' यहाँ दोनों भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं अतः षष्ठ्यर्थ सम्बन्ध उपपन्न है । किन्तु 'शब्दाप्रतिपत्तिरूप' दोष तो तदवस्थ ही है ।

४. वि+आङ्+कृ+ल्युट्=व्याकरणम् । यहाँ ल्युट्=अन का विधान करण (जिससे किया जाता है—) अर्थ में है । जिससे शब्दों की व्याकृति=

केन तर्हि ?

सूत्रेण ।

भवे च तद्धितः (का. वा. १३)

भवे[1] च तद्धितो नोपपद्यते—व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण इति । नहि शब्दे भवो योगः ।

क्व तर्हि ?

सूत्रे[2] ।

प्रोक्तादयश्च तद्धिताः । (का. वा. १४)

प्रोक्तादयश्च[3] तद्धिता नोपपद्यन्ते—पाणिनिना प्रोक्तम्—पाणिनीयम्, आपिशलम्, काशकृत्स्नमिति । न हि पाणिनिना शब्दाः प्रोक्ताः ।

उपपन्न नहीं होता है—व्याकृत होते हैं शब्द इससे—यह व्याकरण है। किन्तु शब्द से कुछ भी व्याकृत नहीं होता है।

तो किससे (व्याकृत होता है) ?

सूत्र से ।

(वा०) और भव (अर्थ) में तद्धित (प्रत्यय अनुपपन्न है) ।

और भव (वहाँ होना अर्थ) में तद्धित (प्रत्यय) उपपन्न नहीं होता है—व्याकरण में होने वाला योग—वैयाकरण । क्योंकि शब्द में तो योग नहीं होता है। [यह द्वितीय दोष है।]

तो कहाँ (होता है) ?

सूत्र में ।

(वा०) और प्रोक्त आदि (अर्थों में विहित) तद्धित (प्रत्यय भी उपपन्न नहीं होते हैं) । [यह तृतीय दोष है ।]

और प्रोक्त आदि (अर्थों में विहित) तद्धित (प्रत्ययभी) नहीं उपपन्न होते

प्रकृति-प्रत्यय-विभागादि किया जाता है वह व्याकरण है। जब व्याकरण = शब्द है तो करण अर्थ उपपन्न नहीं होता है क्योंकि शब्द व्याकृति का करण नहीं है अपितु शब्द की ही व्याकृति होने से वह व्याकृति का कर्म है।

१. तत्र भवः (पा० सू० ४।३।५३) ।

२. एक सूत्र में दूसरा सूत्र = योग होता है। जैसे "विभाषा गुणेऽस्त्रियाम्" (पा० सू० २।३।२५) सूत्र में 'विभाषा' योगविभाग करके एक अन्य योग = सूत्र बनता है।

३. "तेन प्रोक्तम्" (पा० सू० ४।३।१०१) आदि से विहित। स्वकृत या परकृत को प्रथम प्रकाशित करना प्रोक्त कहा जाता है।

किं तर्हि ?

सूत्रम् ।

किमर्थमिदमुभयमुच्यते--'भवे-प्रोक्तादयश्च[1] तद्धिताः' इति । न 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इत्येव, भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ?

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टम्--'भवे च तद्धितः' इति, तत् पठितम् । तत उत्तरकालमिदं दृष्टम्--'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इति, तदपि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ।

अयं तावददोषः--यदुच्यते 'शब्दे ल्युडर्थः' इति । नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड्विधीयते ।

किं तर्हि ?

अन्येष्वपि कारकेषु--"कृत्यल्युटो बहुलम्" (पासू. ३।३।११३) इति । तद्यथा—प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति ।[2]

हैं—पाणिनि द्वारा प्रोक्त—पाणिनीय, (आपिशलि द्वारा प्रोक्त) आपिशल (और काशकृत्स्नद्वारा प्रोक्त) काशकृत्स्न । क्योंकि पाणिनिद्वारा शब्द प्रोक्त नहीं हैं ।

तो क्या (प्रोक्त है) ?

सूत्र ।

ये दोनों (दोष) किस लिये कह रहे हैं—भव में और प्रोक्तादि तद्धित । केवल 'प्रोक्त आदि तद्धित' इतना ही, भव अर्थ में भी तद्धित (प्रत्यय) उक्त हो जाता ?

पहले आचार्य (कात्यायन) ने यह देखा—'और भव में तद्धित' इसे पढ़ दिया । इसके बाद यह देखा—'प्रोक्त आदि तद्धित', इसे भी पढ़ दिया । अब आचार्य (कात्यायन) सूत्र=वार्तिक बना कर हटाते नहीं (निवृत्त नहीं करते) हैं ।

जो कहा जाता है—"शब्द में ल्युट् का अर्थ (करणत्व) उपपन्न नहीं होता है ।" यह दोष नहीं है, क्योंकि करण और अधिकरण कारकों में ही निश्चितरूप-से ल्युट् (प्रत्यय) का विधान नहीं किया जाता है ।

तो क्या ?

अन्य कारकों में भी (ल्युट् होता है—) "कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय

---

१. 'प्रोक्तादयश्च' यहां 'आदि' शब्द से भव का भी ग्रहण सम्भव है ।

२. प्रपतति अस्मात्—इस अपादान अर्थ में ल्युट् होकर प्रपतन रूप बना है । प्रपतन का अर्थ है—ढलान रहित सीधी खड़ी चट्टान । इसी प्रकार व्याकरण शब्द में करण की अपेक्षा कर्म में ल्युट् मान लेना चाहिये । चूँकि शब्द—व्याकृति का कर्म=विषय है । अतः ल्युडर्थ उपपन्न है ।

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते। तद्यथा—गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति।

अयं तर्हि दोषः 'भवे-प्रोक्तादयश्च तद्धिता' इति।

एवं तर्हि—

[1]लक्ष्य-लक्षणे व्याकरणम्। (का. वा. १५)

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति।

किं पुनर्लक्ष्यम्, किं लक्षणम् ?

शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्।

एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरण-शब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते—वैयाकरण इति।[2]

बहुलरूप से होते हैं।" जैसे—प्रस्कन्दन और प्रपतन (यहाँ प्रस्कद्यते अस्मात्—इस अपादान अर्थ में भी ल्युट् = अन प्रत्यय है)।

अथवा शब्दों से भी शब्दों की व्याकृति (व्याख्यान या अन्य-निवृत्ति) होती है। जैसे—'गौः' (यह गाय है)—ऐसा कहा जाने पर सभी सन्देह निवृत्त हो जाते हैं कि न घोड़ा है न गधा।

तो यह दोष (है ही)—भव में (तद्धित) और प्रोक्तादि तद्धित।

यदि ऐसा है तो—

(वा०) लक्ष्य और लक्षण (समुदाय) में व्याकरण (शब्द प्रयुक्त होता है)।

लक्ष्य और लक्षण यह समुदित (मिलकर) व्याकरण होता है।

लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है ?

शब्द लक्ष्य है सूत्र लक्षण है।

इस प्रकार भी यह दोष है—(दोनों के) समुदाय (अर्थ) में प्रवृत्त होने वाला व्याकरण शब्द केवल अवयव में उपपन्न नहीं होता है। और (केवल) सूत्र पढ़ने वाला भी 'वैयाकरण' (व्याकरणमधीते इस अर्थ में) इष्ट है।

---

१. सूत्र और उसके उदाहरणभूत शब्द—दोनों का समुदाय—व्याकरण का वाच्यार्थ है। समुदाय अर्थ मान लेने पर उपर्युक्त सभी दोष निवृत्त हो जाते हैं।

२. जब सूत्र और शब्द दोनों का समुदाय ही व्याकरण है तो केवल सूत्र व्याकरण नहीं माना जा सकता। अतः केवल सूत्र को पढ़ना = व्याकरण पढ़ना नहीं हो सकता। अतः सूत्र पढ़ने वाले को वैयाकरण कहना सम्भव नहीं है। जब कि वास्तव में वह भी वैयाकरण माना जाता है।

नैष दोषः। समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्-यथा—पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्[1], घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः कृष्ण इति।

एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेऽपि वर्तते।[2]

अथवा पुनरस्तु सूत्रम्[3]—

ननु चोक्तम् "सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः" इति।

नैष दोषः। व्यपदेशिवद्भावेन[4] भविष्यति।

यह (पूर्वोक्त) दोष नहीं हैं। क्योंकि समुदाय अर्थ में प्रवृत्त होने वाले (=समुदायवाचक) शब्द अवयव (अर्थ) में भी प्रवृत्त होते हैं जैसे—(पञ्चाल देश के अवयव) पूर्व पञ्चाल उत्तर पञ्चाल (कहे जाते हैं। पञ्चाल पूरे देश का नाम है पूर्व और उत्तर उसके अवयव हैं)। तेल खाया, घी खाया, शुक्ल, नीला, काला आदि।

इसी प्रकार (सूत्र और लक्ष्य) समुदाय में प्रवृत्त होनेवाला यह व्याकरण शब्द अवयव (केवल सूत्र) में भी प्रवृत्त=प्रयुक्त होता है।

(दोनों को वाच्य मानने में गौरव है अतः) अथवा (केवल) सूत्र (ही) व्याकरण का अर्थ हो—

क्यों जी,—'सूत्र के व्याकरण (-वाच्य मानने) में षष्ठी का अर्थ उपपन्न नहीं होता है-' यह (दोष) कहा गया है।

यह दोष नहीं है। व्यपदेशिवद्भाव (मुख्यव्यवहार के आरोप) से (षष्ठ्-यर्थ उपपन्न) हो जायगा।

---

१. औषधियों से संस्कृत या मिश्रित तेल अथवा घी की अधिक मात्रा को ध्यान में रखकर यह प्रयोग किया जाता है। और अन्य रंग रहने पर भी जो रंग अधिक मात्रा में रहता है उसी के आधार पर सफेद, नीला या काला आदि व्यवहार होता है। इस प्रकार कहीं समुदायवाचक का अवयव के लिये और अवयववाचक का समुदाय के लिये व्यवहार होता है।

२. केवल अवयव के लिये भी व्याकरण शब्द प्रयुक्त होने के कारण केवल सूत्र पढ़ने वाला भी व्याकरण पढ़नेवाला=वैयाकरण है।

३. दोनों के समुदाय को अर्थ मानने में गौरव है। अतः सूत्र अर्थ ही सिद्धान्तपक्ष है।

४. व्यपदेशः=निमित्तसद्भावाद् विशिष्टः अपदेशः=मुख्यव्यवहारः। सः यस्य अस्ति सः—व्यपदेशी=मुख्यव्यवहारवान्, तस्य इव=व्यपदेशिवद्, तस्य भावः=व्यपदेशिवद्भावः=मुख्यव्यवहारवाले के समान होना।

जहाँ वास्तविक व्यवहार सम्भव नहीं होता है वहाँ उसका आरोपादि करके

यदप्युच्यते—'शब्दाप्रतिपत्तिः' इति।
न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते।
किं तर्हि ? व्याख्यानतश्च' इति
परिहृतमेतत्—तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति।
ननु चोक्तम्—"न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्"—'वृद्धिः, आत्, ऐच्' इति।

किं तर्हि ?

'उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहारः—इत्येतत् समुदितं व्याख्यानं भवति' इति।

अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान् प्रतिपद्यन्ते।

जो कहा जाता है—'शब्द की अप्रतिपत्ति'।
क्योंकि केवल सूत्र से ही शब्दों की प्रतिपत्ति=ज्ञान नहीं करते हैं।
तो क्या ? व्याख्यान से भी।

इसका परिहार किया जा चुका है—वही सूत्र विगृहीत (सन्धि-विच्छेदादि-युक्त) व्याख्यान हो जाता है।

क्यों जी, यह भी कहा गया है—केवल विभज्यमान पद (ही) व्याख्यान नहीं हैं—वृद्धिः, आत्, ऐच्, यह।

तो क्या ?

'उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलकर व्याख्यान होता है।'

न जानने वाले (अल्पज्ञ) के लिये यह इस प्रकार होता है। (वास्तव में) केवल सूत्र से ही शब्दों का ज्ञान करते हैं।

निर्वाह किया जाता है। दक्ष आदि शब्द अकारान्त हैं, इनसे "अत इञ्" (पास्० ४।१।९५) से इञ् प्रत्यय सम्भव है परन्तु विष्णुवाचक 'अ' के अकारान्त न होने से प्रत्यय सम्भव नहीं है। अतः इसी आरोप से अकारान्तत्वव्यवहार होता है। और जैसे 'राहोः शिरः' यहाँ वास्तव में भेद नहीं है, जो राहु है वही शिर है, फिर भी अवयवावयविभाव की कल्पना की जाती है और षष्ठी होती है। इसी प्रकार व्याकरणस्य सूत्रम् में भी मान लेना चाहिये। अथवा सूत्र शब्द सूत्रसामान्य का वाचक है जैसे न्यायसूत्र, योगसूत्र, वेदान्तसूत्र आदि। उनसे निवृत्त कराने के लिये विशेष व्याकरण जोड़ दिया जाता है—व्याकरण का ही सूत्र।

आतश्च[1] सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो[2] गृह्येत।[3]

—०—

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः ?

वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः। (का. वा. १६)

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः।

किमिदं वृत्तिसमवायार्थं इति ?

वृत्तये समवायः--वृत्तिसमवायः। वृत्त्यर्थो वा समवायः—वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायः—वृत्तिसमवायः।[4]

और इस लिये भी सूत्र से ही (ज्ञान प्राप्त करते हैं), क्योंकि जो कोई भी उत्सूत्र (सूत्र का अतिक्रमण करके) कहेगा, उसका ग्रहण नहीं होगा। (अथवा नादः = ध्वनिमात्र गृह्येत = प्रतीत होगी, तात्पर्यार्थ नहीं।)

—०—

वर्णोपदेश के प्रयोजन

(चतुर्दश माहेश्वर सूत्रों के द्वारा) वर्णों का उपदेश किसलिये है ?

(वा०) वृत्तिसमवाय के लिये वर्णों का उपदेश।

वृत्तिसमवाय के लिये वर्णों का उपदेश करना चाहिये।

वृत्तिसमवायार्थ--यह क्या है (इसका तात्पर्य क्या है) ?

(१) वृत्ति के लिये समवाय = वृत्ति-समवाय। वृत्त्यर्थ समवाय वृत्ति-समवाय। वृत्ति-प्रयोजन = वृत्ति से प्रयोज्य समवाय = वृत्तिसमवाय।

---

१. यह निपात है। अतश्च हेतोः = और इस कारण से—यह अर्थ है। इस प्रकार से समर्थन करना व्यतिरेकमुखेन समर्थन माना जाता है।

२. नाद इति = नैतदित्यर्थः। अथवा नादो = अर्थराहित्यात् घोषमात्रमेव गृह्येतेत्यर्थः। कैयट।

३. इसी आधार पर यह प्रसिद्ध है—

"सूत्रेष्वेव हि तत्सर्वं यद्वृत्तौ यच्च वार्तिके।" विष्णुधर्मोत्तर ३।५।१

४. वृत्ति-समवायार्थ उपदेशः— यहाँ वृत्ति शब्द का अर्थ है—"इको यणचि" (पा० सू० ६।१।७७) आदिशास्त्रों की प्रवृत्ति। न्यायादि-शास्त्रों में समवाय एक सम्बन्ध है किन्तु यहाँ इसका अर्थ है—विशेष पौर्वापर्यक्रम से रखना। चतुर्दश माहेश्वरसूत्रों में वर्णविन्यास का जो क्रम है वह लोकप्रसिद्ध नहीं है। उपदेश = उच्चारण। वृत्तिसमवाय—एक समस्त पद है। इसके निम्न तीन तात्पर्य निकाले गये हैं—

(क) वृत्तये = लाघवेन शास्त्रप्रवृत्तये समवायः = वर्णानाम् आनुपूर्व्येण

का पुनर्वृत्तिः ? शास्त्रप्रवृत्तिः ।
अथ कः समवायः ? वर्णानामानुपूर्व्येण सन्निवेशः ।

वृत्ति क्या (वस्तु) है ? शास्त्र = सूत्र की प्रवृत्ति ।

समवाय क्या (पदार्थ) है ? वर्णों का आनुपूर्वी (आगे पीछे) क्रम से रखना ।

सन्निवेशः । वर्णसमवाय के आधार पर ही इक् अण् यण् आदि संज्ञायें (प्रत्याहार) सम्भव होतीं हैं । इसी लिये "इको यणचि" (पा० सू० ६।१।७७) आदि शास्त्रों का आकार लघु रहता है । अन्यथा—'इउऋऌवर्णानां यवरलवर्णाः अइउऋऌएओऐऔवर्णेषु'—यह अत्यन्त गुरुभूत रूप बनाना पड़ता ।

(ख) वृत्त्यर्थः समवायः—यहाँ लक्षणा के बल पर वृत्ति का अर्थ—साधुत्व के उपयोगी शास्त्र की प्रवृत्ति का जनक—यह होता है । उदाहरणार्थ—"इग्यणः सम्प्रसारणम्" (पा० सू० १।१।४५) यहाँ यण् का इक् सम्प्रसारण है । वर्णसमाम्नाय में यण् और इक् दोनों समान संख्यावाले चार चार ही हैं । अतः "यथासंख्यमनुदेशः समानाम्" (पा० सू० १।३।१०) इस सूत्र के अनुसार यथासंख्यबोध होकर सम्प्रसारण संज्ञा होती है । यहाँ क्रमविशेष के फलस्वरूप ही यह अर्थ उत्पन्न होता है ।

अथवा धर्मार्थः नियमः के समान वृत्त्यर्थः समवायः में भी कर्मधारय सम्भव है । चूँकि समवाय वृत्ति = शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये है, अतः इस समवाय को भी वृत्ति कहा जा सकता है— तादर्थ्यात् तच्छब्दव्यवहारः । इस स्थिति में सामानाधिकरण्य के कारण कर्मधारय होता है ।

(ग) वृत्ति-प्रयोजनः = वृत्ति-प्रयोजकः समवायः । शास्त्रप्रवृत्ति प्रयोज्य है, समवाय प्रयोजक है । इस समवाय के द्वारा शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है । यहाँ परम्परया शास्त्र की प्रवृत्ति का जनक समवाय—यह अर्थ है । प्रथम अर्थ से भेद करना है—अइउण् आदि में 'ण्' आदि की इत्संज्ञा "हलन्त्यम्" (पा० सू० १।३।३) से होने के बाद "आदिरन्त्येन सहेता" (पा० सू० १।१।७१) से अणादि प्रत्याहार सम्भव होते हैं । तब "ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः" (पा० सू० ६।३।१११) आदि शास्त्रों की प्रवृत्ति होती है ।

अथवा धर्मप्रयोजनः में जिस प्रकार प्रयोजन का अर्थ प्रयोज्य है उसी प्रकार यहाँ भी समझना चाहिये । वृत्ति = शास्त्रप्रवृत्ति प्रयोजक = प्रवर्तक है और समवाय प्रयोज्य है । शास्त्रप्रवृत्ति के कारण ही वर्णसमवाय बनाया गया । जैसे धर्म प्रयोजक है नियम प्रयोज्य (प्रयोजन) है, वैसे ही यहाँ भी समझना चाहिये । प्रयोजन शब्द में कर्म अर्थ में ल्युट् है—प्रयुज्यते यः सः प्रयोजनः = प्रयोज्यः इत्यर्थः ।

अथ क उपदेशः ? उच्चारणम् ।

कुत एतत् ? दिशिरुच्चारणक्रियः । उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति ।

अनुबन्धकरणार्थश्च । (का. वा. १७)

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः कर्तव्यः । अनुबन्धानासङ्क्ष्यामीति । न ह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम् ।

स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च ।

वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम् ।

प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः ।[1]

[2]इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः । (का. वा. १८ वार्तिकांश)

उपदेश क्या (पदार्थ) है ? उच्चारण ।

यह कैसे ? दिश् धातु का अर्थ उच्चारण क्रिया है । क्योंकि उच्चारण करके (आचार्य) कहता है—इन वर्णों का उपदेश हो गया ।

(वा०) और अनुबन्धकरण = अनुबन्ध लगाने के लिये ।

(२) और अनुबन्धकरण = अनुबन्ध लगाने के लिये (इन) वर्णों का उपदेश करना चाहिये । (पाणिनि कहते हैं—) अनुबन्धों को लगाऊँगा । वर्णों का उपदेश किये विना अनुबन्धों का लगाना सम्भव नहीं है ।

यह वर्णों का उपदेश वृत्तिसमवायार्थ (शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये बनने वाले समवाय के लिये) और अनुबन्धकरण (अनुबन्ध-आसञ्जन) के लिये है ।

वृत्तिसमवाय और अनुबन्धकरण प्रत्याहार के लिये हैं ।

प्रत्याहार (अण् अच् आदि संज्ञायें) ("इको यणचि" पा० सू० ६।१।७७ आदि शास्त्रों की) प्रवृत्ति के लिये है ।

(वा०) और इष्ट वर्णों का ज्ञान कराने के लिये वर्णों का उपदेश है ।

---

१. मुख्य उद्देश्य शास्त्र की प्रवृत्ति है । इसके लिये प्रत्याहार आवश्यक हैं । प्रत्याहारों की निष्पत्ति अनुबन्धों (इत्संज्ञक वर्णों) से और वर्णसमवाय से होती है । इस प्रकार वर्णसमवाय के उपदेश के दो फल सिद्ध होते हैं (१) वृत्तिसमवाय और (२) अनुबन्धकरण ।

२. कहीं कहीं इसे वार्तिक माना गया है । कुछ संस्करणों में इसे भाष्य का ही वचन माना गया है ।

'इष्टान् वर्णान् भोत्स्यामहे'[1] इति। न ह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम्।

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्त-स्वरितानुनासिक-दीर्घप्लुतानामप्युपदेशः। (का. वा. १८)

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः। एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते।[2]

आकृत्युपदेशात्[3] सिद्धम्। (का० वा० १९)

आकृत्युपदेशात् सिद्धमेतत्। अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति। तथेवर्णाकृतिः। तथोवर्णाकृतिः।

---

(३) (अपने व्याकरण में) इष्ट वर्णों का ज्ञान करायेंगे।' किन्तु वर्णों का उपदेश न करके इष्ट वर्णों का ज्ञान नहीं किया जा सकता।

(वा०) इष्ट (वर्णों) के ज्ञान के लिये यदि (वर्णों का उपदेश है तो) उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ और प्लुत (वर्णों) का भी उपदेश (करना चाहिये)।

(चतुर्दश सूत्रों में किया गया वर्णोपदेश) यदि इष्ट (वर्णों) का ज्ञान कराने के लिये है तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ, एवं प्लुत (वर्णों) का भी उपदेश करना चाहिये। इस प्रकार के गुण (धर्म) वाले वर्ण भी इष्ट हैं।

(वा०) आकृति = जाति के उपदेश से सिद्ध है।

जाति के उपदेश से यह (सभी गुणविशिष्ट वर्णों का ग्रहण) सिद्ध हो जाता है। अवर्ण की आकृति (अत्वजाति) उपदिष्ट है, सभी अकारों का ग्रहण = ज्ञान करायेगी। इसी प्रकार इवर्ण आकृति = इत्वजाति और उवर्ण आकृति =

---

१. यहाँ णिजर्थ अन्तर्भावित है। अतः इसका अर्थ—'बोधयिष्यामहे' ज्ञान करायेंगे—यह है।

२. अइउण् आदि में उपदिष्ट अकार आदि में—उदात्तादि तीन का एक ही भेद और ह्रस्वादि तीन का एक ही भेद है अन्य दो का उपदेश करना होगा। इसी प्रकार अननुनासिक उपदिष्ट है, अनुनासिक का उपदेश करना होगा, ह्रस्व उपदिष्ट है दीर्घ एवं प्लुत का उपदेश करना होगा। क्योंकि ऐसे वर्ण भी इष्ट हैं।

३. अइउण् आदि माहेश्वर सूत्रों में अकारादि व्यक्ति का ग्रहण नहीं है अपितु अकारादिमात्र में रहने वाली अत्व आदि जाति का ग्रहण है। इसलिए सर्वविध अकारादि का ज्ञान अत्वादि जाति से होने में कोई बाधक नहीं है पृथक्-पृथक् उपदेश अनावश्यक है।

आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधः ।

(का० वा० २०)

आकृत्युपदेशात् सिद्धमिति चेत् संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः ।[1]

के पुनः संवृतादयः ?

संवृतः, कलः, ध्मातः, एणीकृतः, अम्बूकृतः, अर्धकः, ग्रस्तः, निरस्तः, प्रगीतः, उपगीतः, क्ष्विण्णः, रोमश इति ।

अपर आह—

ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ।

सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः[2] ॥ इति ॥

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।

उत्वजाति (भी सभी इकारों और सभी उकारों का ग्रहण करायेगी) ।

(वा०) जाति के उपदेश से यदि सिद्ध (है तो) संवृत आदि (दोषों) का प्रतिषेध (करना होगा) ।

(अत्वादि) जाति के उपदेश से (सर्वगुणविशिष्ट अकारादि का ग्रहण) यदि सिद्ध है तो (जाति के आधार पर आपतित होने वाले) संवृत आदि (स्वर-दोषों) का प्रतिषेध करना होगा ।

(वे) संवृत आदि (दोष) कौन कौन हैं ?

(१) संवृत, (२) कल, (३) ध्मात, (४) एणीकृत, (५) अम्बूकृत, (६) अर्धक, (७) ग्रस्त, (८) निरस्त, (९) प्रगीत, (१०) उपगीत, (११) क्ष्विण्ण (और) (१२) रोमश ।

दूसरा (व्याख्याकार) कहता है—

(१) ग्रस्त, (२) निरस्त, (३) अवलम्बित, (४) निर्हत, (५) अम्बूकृत, (६) ध्मात, (७) विकम्पित, (८) सन्दष्ट, (९) एणीकृत, (१०) अर्धक, (११) द्रुत (१२) विकीर्ण—ये स्वरदोषों की भावना (समूह) है । (दोनों को मिलाने पर अठारह स्वरदोष हैं ।)

इनसे भिन्न व्यंजनदोष हैं । (उनका भी प्रतिषेध करना होगा) ।

---

१. जिस प्रकार सर्वविध गुणों से विशिष्ट अकारों में अत्वादिजाति रहने से उनका ग्रहण होता है इसी प्रकार संवृतादि अठारह दोषों से युक्त अकारादि में भी अत्वादि जाति रहेगी । जातिग्रहण मानने पर उनका भी ग्रहण प्रसक्त होगा । उसका प्रतिषेध करना होगा ।

२. (१) संवृत = स्वरतन्त्रियों का समिटना = संकरा होना । 'अ' का ही गुण है । अन्यों का दोष है । (२) कल = अपने वास्तविक स्थान को छोड़कर किसी

नैष दोषः ।
गर्गादि-विदादिपाठात् संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति ।[1]
अस्त्यन्यद् गर्गादिविदादिपाठे प्रयोजनम् ।
किम् ?
समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ।[2]

यह (पूर्वोक्त) दोष नहीं है ।

गर्गादि (गण) और विदादि (गण) में पाठ से संवृत आदि दोषों की निवृत्ति हो जायगी ।

गर्गादि एवं विदादि-गण में (अकारादि के) पाठ का दूसरा प्रयोजन है ।

क्या ?

समुदायों का साधुत्व जिस प्रकार से हो (उसके लिए गर्गादिगण में पाठ है, दोषनिवृत्ति के लिए नहीं) ।

अन्य स्थान पर उच्चारित होना । (३) ध्मात = दौड़ने आदि के कारण श्वास के आधिक्य से ह्रस्व का भी दीर्घ के समान प्रतीत होना । (४) एणीकृत=ओ है अथवा औ—ऐसा सन्देहग्रस्त, उभयसाधारण उच्चारण । (५) अम्बूकृत=व्यक्त होता हुआ भी मुख के अन्तर्गत उच्चारित सा सुनाई देना । (६) अर्धक = दीर्घ होते हुए भी ह्रस्व के समान सुनाई देना । (७) ग्रस्त = जिह्वा के मूल भाग में निगृहीत सा, अव्यक्त । (८) निरस्त = निष्ठुर, कर्कश । (९) प्रगीत = सामवेदमंत्र के समान गाकर उच्चारित । (१०) उपगीत = समीपवर्ती अन्य वर्ण की गीति से युक्त । (११) क्ष्विण्ण = कांपता हुआ सा । (१२) रोमश = गम्भीर । (१३) अवलम्बित = अन्यवर्ण से मिश्रित । (१४) निहत = रुक्ष = रूखा । (१५) सन्दष्ट= बढ़ाया हुआ सा । (१६) विकीर्ण = अग्रिम वर्ण तक फैला हुआ, अथवा एक होता हुआ भी अनेक सा प्रतीत होना । (१७) द्रुत । (१८) विकम्पित । इसी प्रकार अशक्ति एवं प्रमाद से अनन्त दोष हो सकते हैं ।

१. यहां तात्पर्य यह है कि गर्गादि एवं विदादिगणों में जो गर्ग आदि शब्द पठित हैं । उनके अकारादि स्वरों में ये १८ दोष नहीं हैं । सभी शुद्ध ही हैं । इसी आधार पर अन्यत्र भी शुद्ध का ही ग्रहण होगा ।

२. गर्गादिगण का पाठ समुदाय-साधुत्व के लिए है, दोषनिवृत्ति के लिए नहीं । इस पंक्ति की व्याख्या कैयट और नागेश ने भिन्न-भिन्न रूप में की है । कैयट के अनुसार गर्गादिगण में गर्ग आदि का ही सन्निवेश होने से इन गर्गआदि समुदायों का साधुत्व होगा, गार्ग्य आदि का नहीं । इसलिए इन गर्गादि के अकारादि के दोषों की ही निवृत्ति हो सकती है अन्य समुदाय के अकारादि के

एवं तर्हि अष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि ।[1]

सा तर्हि वक्तव्या ?

लिङ्गार्था[2] तु प्रत्यापत्तिः । (का. वा. २१)

लिङ्गार्था सा तर्हि भवति ।

तर्त्तर्हि वक्तव्यम् ।

यद्यप्येतदुच्यते, अथवैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यम् । इत्संज्ञा च न वक्तव्या । लोपश्च न वक्तव्यः । यदनुबन्धैः क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते ।[3]

ऐसा है तो कलादि दोषों से रहित, अठारह भेदोंवाली 'अ' वर्ण की प्रत्यापत्ति = प्रतिविधान (पुनः स्वरूपप्राप्ति) कहूँगा ।

तो वह प्रत्यापत्ति = प्रतिविधान कहना चाहिये ? (यह गौरव होगा) ।

(वा०) (कलादिदोषरूप) लिङ्गों (को निवृत्ति) के लिये तो प्रत्यापत्ति ।

तो वह (प्रत्यापत्ति कलादिदोषरूप) लिङ्गों (की निवृत्ति) के लिये हो जाती है ।

तो (धात्वादिगत कलादिदोषरूप लिङ्ग) कहा जाय ।

(धात्वादि में कलादि दोषरूप लिङ्ग कहे जाँय और प्रत्यापत्ति से उन्हें दूर

दोषों की नहीं । और यह पाठ यद्यपि प्रत्ययविधानार्थं है तथापि प्रसंगतः साधुत्व के लिए भी होता है । नागेश के अनुसार गर्गादिगण के पाठ का यही प्रयोजन है कि गर्गादि-प्रकृतिक-यञादि-प्रत्ययान्त गार्ग्य आदि समुदायों का ही साधुत्व है, अन्य प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय का नहीं । अतः यह पाठ कलादिदोषनिवृत्ति नहीं कर सकता ।

१. अष्टाध्यायी के अन्त में "अ अ" (पा० सू० ८।४।६८) इस सूत्र में विवृत 'अ' का संवृत प्रतिविधान किया गया है । इसी प्रकार 'इ इ' 'उ उ' आदि कल्पित सूत्रों के द्वारा शुद्ध इकरादि का प्रतिविधान कर लेने से दोषों की निवृत्ति सम्भव है ।

२. धातु आदि में तत्तद् अनुबन्धों के स्थान पर इन कलादि दोषों को पढ़ देना चाहिये । अनुबन्धों का कार्य इनसे चलाना चाहिये । प्रतिविधान करके इनको दूर कर लेना चाहिये । इसलिये अनेक अनुबन्ध लगाना, उनकी इत्संज्ञा करना, लोप करना आदि की आवश्यकता नहीं रहेगी । जैसे अनुबन्धरहित ही वर्णादि लक्ष्य में प्रयुक्त होते हैं उसी प्रकार दोषरहित ही प्रयुक्त होंगे । इसमें लाघव है ।

३. जिस प्रकार आत्मनेपद के लिये अनुदात्त स्वर या 'ङ्' अनुबन्ध लगाकार

सिद्धयत्येवम् । अपाणिनीयं तु भवति ।

यथान्यासमेवास्तु[1] ।

ननु चोक्तम् 'आकृत्युपदेशात्सिद्धमितिचेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः' इति ।

परिहृतमेतत्–गर्गादिविदादिपाठात्संवृतादीनांनिवृत्तिर्भविष्यति इति ।

ननु चान्यत् गर्गादि-विदादिपाठे प्रयोजनमुक्तम् ।

किम् ?

समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति ।

कर दिया जाय) जब यह कहा जाता है तो अनेक—सैकड़ों अनुबन्धों (इत्संज्ञक वर्णों) का उच्चारण नहीं करना होगा, (इनकी) इत्संज्ञा नहीं कहनी होगी, और लोप भी नहीं कहना होगा । अनुबन्धों से जो कार्य किया जाता है वह इन कलादि दोषों से किया जायगा ।

इस प्रकार सिद्ध तो हो जाता है । किन्तु अपाणिनीय (पाणिनीय शास्त्र से विरुद्ध) हो जाता है ।

जैसा लिखा है, वैसा ही रहे ।

क्यों जी, यह कहा जा चुका है—'जाति के उपदेश से (सभी का ग्रहण) सिद्ध है तो संवृतादि दोषों का प्रतिषेध (कहना होगा) ।'

इसका परिहार किया जा चुका है--'गर्गादि एवं विदादिगण के पाठ से संवृत आदि (दोषों) की निवृत्ति हो जायगी ।'

क्यों जी, गर्गादि एवं विदादि गण में पाठ में दूसरा ही प्रयोजन कहा गया है ।

क्या (दूसरा प्रयोजन कहा गया है) ?

(गार्ग्य आदि) समुदायों का साधुत्व जिस प्रकार हो (इसके लिये पाठ है) ।

इत्संज्ञा करके आत्मनेपदयोग्य बनाया जाता है--"अनुदात्तङित आत्मनेपदम्" (पासू १।३।१२) इन दोनों के स्थानों पर कल और ध्मात दोष पढ़ने चाहिये–'कलध्मातात् आत्मनेपदम्' । इसी प्रकार आगमों के लिये ट् और क् के स्थान पर कल और ध्मात पढ़ने चाहिये—आद्यन्तौ कलध्मातौ । इस लिये जहाँ जहाँ अनुबन्ध हैं वहाँ वहाँ दोषपाठ करना चाहिये और प्रत्यापत्ति से इन्हें दूर कर लेना चाहिये ।

१. वर्णोपदेश का महत्त्व सिद्ध करने की अपेक्षा पाणिनि के अनेक सूत्रों का ही परिवर्तन करने लग गये । अतः जैसा है वैसाही ठीक है । परिवर्तन अनुचित है ।

एवं तर्ह्युभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते,[1] कलादयश्च निवर्त्यन्ते।

कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम् ?

लभ्यमित्याह।

द्विगता अपि हेतवो भवन्ति[2]। तद्यथा—आम्राश्च सिक्ताः, पितरश्च प्रीणिता इति। तथा वाक्यान्यपि द्विष्ठानि भवन्ति श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति[3]।

अथवा—इदं तावदयं प्रष्टव्यः—क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति ?

आगमेषु।

आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते।

विकारेषु तर्हि।

विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते।

यदि ऐसा है तो इस (गर्गादिगण में पाठ) से दोनों किये जाते हैं--पाठ भी विशेषित किया जाता है और कलादि (दोष) भी दूर किये जाते हैं।

परन्तु (पाठरूप) एक ही यत्न से दो फल कैसे प्राप्त होंगे ?

प्राप्त हो सकते हैं-यह (वैयाकरण) कहता है।

हेतु द्विगत (प्रयोजनद्वय के सम्पादक) भी होते हैं। जैसे--(आम्रवृक्ष के नीचे बैठ कर पितरों का तर्पण करने पर) आम भी सिंच जाते हैं और पितर भी तर्पित हो जाते हैं। इसी प्रकार वाक्य भी द्विष्ठ (दो अर्थों के प्रतिपादक) होते हैं--(१) श्वा = कुत्ता इतः = इस स्थान से धावति = दौड़ रहा है। (२) श्वेतः = श्वेत वर्ण वाला (अश्वादि) धावति=दौड़ रहा है। (१) अलम्बुसानाम् = अलम्बुस देश को याता = जाने वाला। (२) बुसानाम् = भूसे को याता = जाने वाला (या प्राप्त करने वाला) अलम् = समर्थ।

अथवा इस (आकृत्युपदेशपक्ष में संवृतादि दोषों की आपत्ति देने वाले) से यह पूछना चाहिये--ये संवृतादि (अठारह दोष) कहाँ सुनाई दे सकते हैं ?

आगमों में।

आगम शुद्ध पढ़े जाते हैं।

विकारों (आदेशों) में।

विकार भी शुद्ध पढ़े जाते हैं।

---

१. इसी प्रकार की आनुपूर्वीवाले गर्गादि एवं विदादि शब्दों से ही यञ्-आदि प्रत्यय हों।

२. द्वौ अर्थौ गताः = दो तात्पर्यों का ज्ञान कराने वाले।

३. पाता पाठ में 'रक्षक' अर्थ होता है। 'पाता' पाठ ही अधिक उचित है।

प्रत्ययेषु तर्हि ।

प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।

धातुषु तर्हि ।

धातवोऽपि शुद्धाः पठ्यन्ते ।

प्रातिपदिकेषु तर्हि ।

प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते ।

यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि ।

एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थं उपदेशः कर्तव्यः ।

शशः षष इति मा भूत् । पलाशः पलाष इति मा भूत् । मञ्चको मञ्जक इति मा भूत् ।

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः ।
उच्चार्यन्ते, ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः ॥

इति श्रीमद्-भगवत्-पतञ्जलि-विरचिते व्याकरण-महाभाष्ये
प्रथमाध्यायस्य प्रथमे पादे प्रथममाह्निकम् ।

—•—

तो प्रत्ययों में ।

प्रत्यय भी शुद्ध पढ़े जाते हैं ।

तो धातुओं में ।

धातुयें भी शुद्ध पढ़ीं जातीं हैं ।

तो प्रातिपदिकों में ।

प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े जाते हैं ।

तो जिन प्रातिपदिक शब्दों का (विधिशास्त्रों में उच्चारण करके उद्देशरूप से) ग्रहण नहीं है (उनमें ये दोष सुनाई दे सकते हैं) ।

स्वर-वर्ण की आनुपूर्वी के ज्ञान के लिये इस प्रकार (के प्रातिपदिकों) का भी उपदेश = उच्चारण करना चाहिये । (जिसके फलस्वरूप) शश षष न हो जाय । पलाश पलाष न हो जाय । मञ्चक मञ्जक न हो जाय ।

आगम, विकार (आदेश) और धातुओं के सहित प्रत्यय—ये सभी शुद्ध ही उच्चारित किये जाते हैं । इस लिये इनमें (कहीं भी) कलादि दोष नहीं प्राप्त होते हैं ।

इस प्रकार श्रीमद्भगवान् पतञ्जलिद्वारा विरचित व्याकरण-महाभाष्य में प्रथमाध्याय के प्रथमपाद में प्रथम आह्निक समाप्त हुआ ।

आचार्य जयशङ्करलाल त्रिपाठि-विरचित प्रकाशाख्य-महाभाष्यव्याख्या
में पस्पशाह्निक समाप्त हुआ ।

—•—

परिशिष्ट

वार्तिकों की सूची

पृष्ठ



—प्राप्ति स्थान—
श्री पं० काशीनाथ दीक्षित
बी० के. ६३/१२३ कोटीपियरी, वाराणसी—२२१००१
विनोद पुस्तक मन्दिर, आगरा ।

